मेरी प्रिय कहानियां / मोहन राकेश

नये दौर की मेरी अधिकांश कहानियां
संबंधों की यन्त्रणा को
अपने अकेलेपन में
झेलते लोगों की कहानियां हैं
जिनमें हर इकाई के माध्यम से
उसके परिवेश को अंकित करने का प्रयत्न है
यह अकेलापन समाज से कटकर
यक्ति का अकेलापन नहीं,
समाज के बीच होने का अकेलापन है
और उसकी परिणति भी
किसी तरह के सिनिसिज़्म में नहीं,
झेलने की निष्ठा में है
व्यवित और समाज को परस्पर-विरोधी
एक दूसरे से भिन्न और आपस में कटी हुई इकाइयां
न मानकर यहां उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का
प्रयत्न है जहां व्यवित समाज की विडम्बनाओं का
और समाज व्यवित की यन्त्रणाओं का आईना है

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



संशोधित मूल्य
7/-
राजपाल एण्ड सन्ज

दूसरा संस्करण ■ १९७३ ■ ~~मूल्य : पांच रुपये~~

मेरी प्रिय कहानियां ■ कहानी-संकलन
लेखक ■ मोहन राकेश © अनीता राकेश
प्रकाशक ■ राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली
मुद्रक ■ राष्ट्रीय प्रिंटिंग वर्क्स, शाहदरा, दिल्ली

JAIPUR—302004

भूमिका

अपनी लिखी कहानियों में से कुछ एक को अलग छांटना काफी दुविधा का काम है। लिखते समय एक रचना के साथ जो निकटता रहती है, वर्ष बीतने के साथ किसी भी व्यतीत सम्बन्ध की तरह वह धुंधलाने लगती है। जिन प्रभावों में एक रचना होती है, उनसे हटकर किन्हीं दूसरे प्रभावों में जीता व्यक्ति उस पहले की रचना के साथ रचना के समय की आत्मीयता नहीं बनाए रह सकता। एक रचना से उबरकर ही वह दूसरी रचना में प्रवृत्त होता है। और अन्तराल जब कई-कई रचनाओं का हो, तब तो आत्मीयता की भूमि पर किसी रचना की ओर लौटना लगभग असम्भव हो जाता है।

इसलिए जो कहानियां मैंने इस संग्रह के लिए चुनी हैं, उनके चुनाव का कोई कारण दे सकना मेरे लिए बहुत कठिन है। कहना ही हो, तो केवल इतना कहा जा सकता है कि इस बार अपनी कहानियों में से गुज़रते हुए इन कहानियों पर उंगली ठहरती गई। **आर्द्रा, मिस पाल** तथा **एक और ज़िंदगी** जैसी कुछ अधिक प्रसिद्ध कहानियों को इस संग्रह में न लेने का कारण भी इससे अधिक कुछ नहीं है कि वे कहानियां आज मेरे समर्थन की अपेक्षा नहीं रखतीं।

चुनाव करने में मेरी एक दृष्टि अवश्य रही है कि इस संग्रह की कहानियां मेरी आज तक की कथा-यात्रा के प्राय: सभी पड़ावों का प्रतिनिधित्व कर सकें। केवल **इन्सान के खंडहर** शीर्षक संग्रह में से कोई कहानी मैंने यहां नहीं ली। **इन्सान के खंडहर** की कहानियां कई दृष्टियों से मेरे बाद के प्रयोगों के साथ एक कड़ी के रूप में ठीक से जुड़ नहीं पातीं। उनके शिल्प और कथ्य दोनों में

एक तरह की 'कोशिश' है, एक अनिश्चित तलाश का कच्चापन ! यूं पाठकों का एक वर्ग ऐसा भी है जिसे आज भी मेरी वही कहानियां सबसे अधिक पसंद हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक लेखक के साथ-साथ उसके सभी पाठक उसकी बदलती मानसिकता के सब पड़ावों से गुज़रते रहें। हर पड़ाव पर किन्हीं पाठकों के साथ एक लेखक का सम्बन्ध टूट जाता है, और वहीं से एक नये वर्ग के साथ उसके सम्बन्ध की शुरुआत हो जाती है। ऐसा न होना एक लेखक की जड़ता का प्रमाण होगा। जीवन-भर एक ही मानसिक भूमि पर रहकर रचना करते जाना केवल शब्दों का व्यवसाय है, और कुछ नहीं। लेकिन इस स्थिति के विपरीत पाठकों का एक दूसरा वर्ग भी है जो न केवल एक लेखक की पूरी रचना-यात्रा में उसके साथ रहता है, बल्कि कई बार अपनी नई अपेक्षाएं सामने लाकर उसे प्रयोग की नई दिशा में अग्रसर होने के लिए बाध्य भी करता है। एक लेखक और उसके पाठक-वर्ग की यह सहयात्रा यदि जीवन-भर बनी रहे, तो काफी सुखद हो सकती है। परन्तु सम्भावना यह भी है कि एक मुकाम ऐसा आ जाए जहां मनोवेगों की प्रक्रिया बिलकुल अलग हो जाने से लेखक एकदम अकेला पड़ जाए। यह अकेलापन आगे चलकर उसे एक नये पाठक समुदाय से जोड़ भी सकता है और अपने तक सीमित रहकर टूट जाने के लिए विवश भी कर सकता है। परन्तु रचना के समय इस इतिहास-सन्दर्भ की बात सोचना गलत है।

मैंने अपनी शुरू-शुरू की कहानियां जिन दिनों लिखीं—उनमें से कई एक **इंसान के खंडहर** में भी संकलित नहीं हैं—उन दिनों कई कारणों से मैं अपने को अपने तब तक के परिवेश से बहुत कटा हुआ महसूस करता था। जिन व्यक्तियों और संस्कारों के बीच पलकर बड़ा हुआ था, उनके खोखलेपन को लेकर मन में गहरी कटुता और वितृष्णा थी। घर की पूरी ज़िम्मेदारी सिर पर होने से उसे निभाने की मजबूरी से मन छटपटाता था। मैं किसी तरह अपने को विरासत के सब सम्बन्धों से मुक्त कर लेना चाहता था, परन्तु मुक्ति का कोई उपाय नहीं था। छोटा भाई इतना छोटा था, बड़ी बहन इतनी संस्कार-ग्रस्त और मां इतनी असहाय कि मेरी 'स्वतन्त्रता' की भूख कोरी मानसिक उड़ान के सिवा कुछ महत्त्व नहीं रखती थी। मेरी शुरू की कहानियां इसी मानसिकता की उपज थीं। एक छोटा-सा दायरा था, तीन-चार दोस्तों का।

वे सब भी किसी न किसी रूप में अपने-अपने परिवेश से ऊबे या कटे हुए लोग थे। किसी भी रचना की सार्थकता इसी में थी कि कहां तक उससे उस दायरे की मानसिक अपेक्षाओं की पूर्ति होती है। हममें से दो आदमी, मैं और मेरा एक और साथी, संस्कृत में एम० ए० कर चुके थे; एक अंग्रेज़ी में एम० ए० कर रहा था और दो-एक लोग पत्रकारिता के क्षेत्र में थे। मेरे संस्कृत के सह-पाठी को छोड़कर हम सबके लिए लाहौर की ज़िंदगी नई चीज़ थी और हम लोग ज़्यादा से ज़्यादा समय घर से बाहर रहने के लिए पूरा-पूरा दिन माल पर काफी हाउस और चेन्नीज़ लंच होम से लेकर स्टैंडर्ड और लारेंस बार के बीच बिता दिया करते थे। हमें इस 'जीवन-बोध' में दीक्षित करने वाला व्यक्ति मेरा सहपाठी ही था जो पंजाब मंत्री-मंडल के एक सदस्य का दत्तक पुत्र होने के नाते हम सबसे अधिक साधन-सम्पन्न था और बहुत पहले से माल रोड की बार-रेस्तरां दुनिया से घनिष्ठता रखता था। क्योंकि जुमलेबाज़ी उसकी बहुत बड़ी विशेषता थी, इसलिए हम सब, उससे प्रभावित होने के कारण, काफी हाउस से लेकर साहित्य तक हर जगह को सिर्फ जुमलेबाज़ी का अखाड़ा मानते थे। 'एक अच्छे जुमले के सामने दोस्ती भी बहुत छोटी चीज़ है'—इस दृष्टि को लेकर चलने वाले हम चार-पांच 'जीनियस' एक तो हर मिलने वाले पर अपनी कला आज़माते रहते थे, दूसरे उस सारे साहित्य को बेकार समझते थे जिसमें जुमलेबाज़ी का चटखारा न हो। अगर हमें मंटो जैसे लेखक की कहा-नियां पसंद आती थीं, तो अपने शिल्प या कथ्य के कारण नहीं, बल्कि उस जुमलेबाज़ी की वजह से ही जोकि मंटो की भी खासी कमज़ोरी थी। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं था कि अपने ढंग से हम भी अपनी कहानियों में जुमले-बाज़ी का अभ्यास करते। पर उसी शब्दों के अतिरिक्त मोह के कारण आज उस समय की रचनाएं इतनी बेगाना लगती हैं कि उनमें से किसी एक को यहां केवल उदाहरण के रूप में रख लेने को भी मन नहीं हुआ।

इंसान के खंडहर के बाद मेरा दूसरा कहानी-संग्रह था **नये बादल**। दोनों के प्रकाशन में सात साल का अन्तर है। **इंसान के खंडहर** सन् पचास में **प्रगति प्रकाशन** से प्रकाशित हुआ था, **नये बादल** सन् सत्तावन में **भारतीय ज्ञानपीठ** से। उसके कुछ ही महीने बाद, सन् अट्ठावन के आरम्भ में, **राजकमल प्रकाशन** से **जानवर और जानवर** शीर्षक संग्रह का प्रकाशन हुआ। **नये बादल** और

जानवर और जानवर की कहानियां दो अलग-अलग संग्रहों में संकलित होने पर भी मेरे कहानी-लेखन के एक ही दौर की कहानियां हैं जिसका आरम्भ सन् चौवन से होता है। सन् पचास से सन् चौवन के बीच एक लम्बे अरसे तक मैंने कहानियां लगभग नहीं लिखीं। केवल दो कहानियां लिखी थीं शायद—**एक पंखयुक्त ट्रेजेडी** और **एक छोटी-सी चीज** जो दोनों **प्रतीक** में प्रकाशित हुई थीं। एक और कहानी जो उस बीच **सरगम** में छपी, वह सन् पचास में लिखी जा चुकी थी।

सन् पचास से सन् चौवन के बीच का समय मेरे लिए काफी उथल-पुथल का समय था। विभाजन के बाद काफी दिनों तक बेकारी की मार सहने के बाद बम्बई के शिक्षा-विभाग में जो लेक्चररशिप मिली थी, वह सन् उनचास में छिन गई थी। कारण था आंखों का निर्धारित सीमा से अधिक कमज़ोर होना। उसके बाद बेरोज़गारी के कुछ दिन दिल्ली में कटे, फिर जालंधर के डी० ए० वी० कालेज में लेक्चररशिप मिल गई। लेकिन छः महीने बाद, सन् पचास के शुरू में, बिना कन्फर्म किए उस नौकरी से भी हटा दिया गया। इस बार कारण था टीचर्ज़ यूनियन की गतिविधि में सक्रिय भाग लेना। जिन साथियों के भरोसे अधिकारियों की दमन-नीति का विरोध किया था, उनके बिदक जाने से खासा मोह-भंग हुआ। बेरोज़गारी का आतंक नये सिरे से सिर पर आ जाने से काफी दौड़-धूप करके शिमला के बिशप काटन स्कूल में नौकरी कर ली, परन्तु उत्तरोत्तर मोह-भंग की प्रक्रिया उसके बाद वर्षों तक चलती रही। जीवन के उखड़ेपन को समेटने के इरादे से सन् पचास के अन्त में विवाह कर लिया, पर वह भी एक और स्तर पर मोह-भंग ही शुरुआत थी। सन् बावन तक आते-आते परिस्थितियों की पकड़ इस तरह कसने लगी थी कि आखिर नौकरी छोड़ दी। तय किया कि जैसे भी हो अपनी 'स्वतन्त्रता' बनाए रखते हुए केवल लेखन पर निर्भर रहकर न्यूनतम साधनों में गुज़ारा करने की कोशिश करूंगा। लेकिन यह अभियान भी ज़्यादा दिन नहीं चल सका। सन् तिरेपन के शुरू के कुछ महीने तो किसी तरह निकल गए, पर उसके बाद नये सिरे से नौकरी की तलाश में जुट जाना पड़ा। कई जगह कोशिश कर चुकने के बाद जब मन लगभग हारने लगा, तो एक व्यंग्यात्मक स्थिति सामने आई। जालंधर के डी० ए० वी० कालेज में, जहां तीन साल पहले हिन्दी विभाग में पांचवीं जगह पर कन्फर्म नहीं किया गया था, वहीं पर अब विभागाध्यक्ष के

रूप में बुला लिया गया। जिन साथियों के बीच से गया था, उनमें से कई एक अब भी वहां थे। मुझे नौकरी तो मिल गई, पर मोह-भंग की वह प्रक्रिया जो वहां से जाने के समय शुरू हुई थी, वह तब तक वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक कई-कई स्तरों पर अपने चरम तक पहुंचने लगी थी।

दूसरी बार जालंधर में नौकरी करने से पहले खानाबदोशी के दौर में कहानियां नहीं लिखी गईं। बिशप काटन स्कूल से नौकरी छोड़ने और डी० ए० वी० कालेज, जालंधर, में वापस आने के बीच केवल पश्चिमी समुद्र तट का यात्रा-विवरण लिखा जो **आखिरी चट्टान तक** शीर्षक से **प्रगति प्रकाशन** से ही प्रकाशित हुआ। लम्बे अरसे के बाद जो पहली कहानी लिखी उसका शीर्षक था **सौदा**। यह कहानी, जो कि **कहानी** में प्रकाशित हुई, मेरी पहले की कहानियों से इतनी अलग थी कि एक तरह से उसे मेरे लेखन के उस दौर की शुरुआत माना जा सकता है जिसमें आगे चलकर **उसकी रोटी**, **मंदी**, **मलबे का मालिक** और **जानवर और जानवर** जैसी कहानियां लिखी गईं। इंसान के खंडहर से इस दौर तक आते-आते ओढ़ी हुई बौद्धिकता के कोने काफी झड़ गए थे। जुमलेबाजी से इतनी चिढ़ हो गई थी कि अपने जुमलेबाज दोस्त से बारह साल पुरानी दोस्ती लगभग टूटने को आ गई। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन बहुत-से तनावों के बीच जिया जा रहा था, फिर भी अपने परिवेश से कटे होने की अनुभूति का स्थान एक सर्वथा दूसरी अनुभूति ने ले लिया था और वह थी जुड़े होने की अनिवार्यता की अनुभूति। एक तरह की कड़ुवाहट इस अनुभूति में भी थी, पर वह कड़ुवाहट निरर्थक और आरोपित नहीं थी। उसका उद्देश्य भी जुड़े होने की स्थिति से मुक्ति पाना नहीं, उसकी तात्कालिक शर्तों को अस्वीकार करते हुए, जुड़े रहने के सार्थक सन्दर्भों को खोजना था। जिन स्थितियों को लेकर असन्तोष था, उनकी विसंगतियों के प्रति मन में ह्यूमर का भाव भी था। **नये बादल** और **जानवर और जानवर** की अधिकांश कहानियां इसी मानसिकता की उपज हैं। प्रस्तुत संग्रह के लिए उनमें से तीन कहानियां मैंने चुनी हैं: **अपरिचित**, **मंदी** और **परमात्मा का कुत्ता**।

डी० ए० वी० कालेज, जालंधर, में दूसरी बार की नौकरी मेरी जिन्दगी की सबसे लम्बी नौकरी थी। चार साल चार महीने उस नौकरी में रहने के बाद सन् सत्तावन के अन्त में मैंने वहां से भी त्यागपत्र दे दिया। उससे पहले

सन् सत्तावन के अगस्त महीने में सम्बन्ध-विच्छेद के कागज़ पर हस्ताक्षर करके अपने असफल विवाह-सम्बन्ध से भी मुक्त हो चुका था। इस बार यह पक्का निश्चय था कि चाहे जो कुछ झेलना पड़े अब फिर कहीं नौकरी नहीं करूंगा। मगर यह निश्चय फिर दो बार टूटा। एक बार दो महीने के लिए और दूसरी बार लगभग एक साल के लिए। पहली बार कोरे आर्थिक दबाव के कारण, जब कि सन् साठ में दिल्ली विश्वविद्यालय में लेक्चररशिप ले ली, पर ज़्यादा दिन निभा नहीं सका। दूसरी बार एक नये क्षेत्र में अपने को आज़माने के आकर्षण से, जब कि सन् बासठ में **सारिका** का सम्पादन-कार्य संभाला। डी० ए० वी० कालेज, जालंधर, से त्यागपत्र देने और **सारिका** सम्पादक की केबिन में जा बैठने के बीच एक साल जालंधर में ही रहा, और लगभग तीन साल दिल्ली में। इन चार सालों में पहला बड़ा नाटक लिखा : **आषाढ़ का एक दिन**; और पहला उपन्यास : **अंधेरे बंद कमरे**। इन दो रचनाओं के अतिरिक्त कई एक कहानियां भी लिखीं जिनमें प्रमुख थीं : **सुहागिनें, मिस पाल** और **एक और ज़िन्दगी**। इस दौर की अधिकांश कहानियां सम्बन्धों की यन्त्रणा को अपने अकेलेपन में झेलते लोगों की कहानियां हैं जिनमें हर इकाई के माध्यम से उसके परिवेश को अंकित करने का प्रयत्न है। यह अकेलापन समाज से कटकर व्यक्ति का अकेलापन नहीं, समाज के बीच होने का अकेलापन है और उसकी परिणति भी किसी तरह के सिनिसिज़्म में नहीं, झेलने की निष्ठा में है। व्यक्ति और समाज को परस्पर विरोधी, एक-दूसरे से भिन्न और आपस में कटी हुई इकाइयां न मानकर यहां उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का प्रयत्न है जहां व्यक्ति समाज की विडम्बनाओं का और समाज व्यक्ति की यन्त्रणाओं का आईना है। सन् इकसठ के अन्त में **राजपाल एण्ड सन्ज़** से प्रकाशित **एक और ज़िन्दगी** शीर्षक संग्रह में अधिकांश कहानियां इसी दौर की हैं, यद्यपि दो-एक पहले की लिखी कहानियां भी उसमें संकलित हैं। प्रस्तुत संग्रह के लिए चुनी गई कहानियों में दो कहानियां इस दौर की हैं : **सुहागिनें** तथा **वारिस**।

एक और ज़िन्दगी के लगभग पांच साल बाद **फौलाद का आकाश** शीर्षक संग्रह प्रकाशित होने तक केवल लेखन पर निर्भर रहकर जीवन-यापन का निर्णय अन्तिम रूप ग्रहण कर चुका था। सन् तिरेसठ के शुरू में **सारिका** छोड़ने के बाद से आज तक फिर से किसी नौकरी में जाने की नौबत नहीं आई। **सारिका**

छोड़ने के वाद जो पहली कहानी लिखी, वह थी **ग्लास टैंक**। **ग्लास टैंक** से **एक ठहरा हुआ चाकू** तक जितनी कहानियां उन तीन वर्षों में लिखी गईं, उनमें से दो-तीन कहानियों को छोड़कर, प्रायः सभी वड़े शहर की जिन्दगी की भयावहता की कहानियां हैं। हालांकि भयावहता के संकेत इनमें भी व्यक्ति के माध्यम से ही सामने आते हैं, फिर भी इनका केन्द्र-विन्दु व्यक्ति न होकर उसके चारों ओर का सन्त्रास है। **जख्म** और **एक ठहरा हुआ चाकू** शीर्षक कहानियों में यह सन्त्रास अधिक रेखांकित है। इस दौर की कहानियों में मेरी एक और दृष्टि भी रही है—समय की मानसिकता के अनुकूल कहानी की भाषा और शिल्प की खोज के लिए अलग-अलग तरह के प्रयोग करने की। **जख्म** के अतिरिक्त **सेफ्टी पिन** और **सोया हुआ शहर** जैसी कहानियां इस तरह के प्रयोगों में आती हैं, हालांकि इस प्रयोगशीलता के वीज पहले के दौर में **वस स्टैंड की एक रात** जैसी कहानियों में देखे जा सकते हैं। यहां इस दौर की कहानियों में से पांच कहानियां मैंने ली हैं। इनमें **पांचवें माले का फ्लैट**, **जख्म** और **एक ठहरा हुआ चाकू** वड़े शहर के संत्रास की कहानियां हैं। **ग्लास टैंक** और **जंगला** अपनी मानसिकता की दृष्टि से **एक और जिन्दगी** संग्रह की कहानियों के अधिक निकट पड़ती हैं, यद्यपि भाषा और शिल्प की दृष्टि से वे भी इस नये दौर की कहानियों में ही आती हैं।

सन् छियासठ से आज तक जो कुछ एक कहानियां लिखी हैं, उनमें से कोई कहानी मैंने यहां नहीं ली। कारण इतना ही कि पहले उन कहानियों को एक स्वतन्त्र संग्रह में आ आना चाहिए। पहले के पांचों संग्रहों की कहानियां इस वीच चार नई जिल्दों में **राधाकृष्ण प्रकाशन** से प्रकाशित हो चुकी हैं। अव वे पहले के रूप में उपलब्ध न होकर जिन जिल्दों में उपलब्ध हैं, उनके नाम हैं: **आज के साये**, **रोएं-रेशे**, **एक-एक दुनिया** और **मिले-जुले चेहरे**। कहानियों की अगली जिल्द आने तक दो-एक साल का समय और निकल जा सकता है। किसी एक वर्ष में तीन-चार से अधिक कहानियां मैं कभी नहीं लिख पाया। आज तो यह संख्या एक या दो कहानियों तक ही सीमित है।

—मोहन राकेश

आर-८०२, न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली—६०

क्रम

ग्लास टैंक

मीठे पानी की मछलियां, कार्प परिवार की। देर-देर तक मैं उन्हें देखती रहती। शोभा पीछे से आकर चौंका देती। कहती, "गोल्डफिश, फिर गोल्डफिश को देख रही है ?"

मैं जानती थी वह मेरे भूरे-सुनहरे वालों की वजह से ऐसा कहती है। मुसकराकर मैं टैंक के पास से हट जाती। ज़ाहिर करना चाहती कि ऐसे ही चलते-चलते रुक गई थी। शोभा सोफे पर पास बिठा लेती और मेरे वालों को सहलाने लगती। कहती, "यह ग्लास टैंक तेरे साथ भेज दें ?"

मुझे उसकी उंगलियों का स्पर्श अच्छा लगता। उन्हें हाथ में लेकर देखती। पतली-पतली उंगलियां! नसें नीली लकीरों की तरह उभरी हुईं। मन होता उनके पोरों को होंठों से छू लूं, मगर अपने को रोक जाती। डर लगता वह फिर कह देगी, "यू सेंशुअस गर्ल! तू ज़िन्दगी में निभा कैसे पाएगी ?"

उसकी उंगलियों में उंगलियां उलझाए बैठी रहती। सोफे के खुरदरे रेशों पर वे और भी मुलायम लगतीं। सेवार में तैरती नन्ही-नन्ही मछलियां! अपना हाथ जाल की तरह लगता। कांपती मछलियां जाल में सिमट आतीं। कुछ देर कांपने के बाद निर्जीव पड़ जातीं, या हल्के से प्रयत्न से छूट जातीं।

"तू खुश रहेगी न ?" मैं ऐसे पूछती जैसे मेरे पूछने पर कुछ निर्भर करता हो। वह एक कोमल हंसी हंस देती—ऐसी जो वही हंस सकती है। हवा में ज़र्रे बिखर जाते। मेरे अन्दर भी ज़र्रे बिखरने लगते। मैं उसका हाथ फिर हाथ में कस लेती। चुपचाप उसकी आंखों में देखती रहती। मगर कहीं सेवार

नज़र न आती। उसकी आंखें भी हंसती-सी लगतीं।

"खुशी तो मन की होती है।" वह कहती। "अपने से ही पानी होती है। बाहर से कौन किसीको खुशी दे सकता है!"

बहुत स्वाभाविक ढंग से वह कहती, मगर मुझे लगता झूठ बोल रही है। उसकी मुसकराती आंखें भीगी-सी लगतीं। एक ठण्डी सिहरन मेरी उंगलियों में उतर आती।

"वह आजकल कहां है?" मैं पूछ लेती।

"कौन?" वह फिर झूठ बोलती।

"वही, संजीव।"

"क्या पता?" उसकी भौंहों के नीचे एक हल्की-सी छाया कांप जाती, पर वह उसे आंखों में न आने देती। "साल-भर पहले कलकत्ता में था।"

"इधर उसकी चिट्ठी नहीं आई?"

"नहीं।"

"तूने भी नहीं लिखी?"

"ना।"

"क्यों?"

वह हाथ छुड़ा लेती। दरवाज़े की तरफ देखती, जैसे कोई उधर से आ रहा हो। फिर अपनी कलाई में कांच की चूड़ियों को ठीक करती। आंखें मुंदने को होतीं, पर उन्हें प्रयत्न से खोल लेती। मुझे लगता उसके होंठों पर हल्की-हल्की सलवटें पड़ गई हैं। "वे सब बेवकूफी की बातें थीं!" वह कहती।

मन होता उसके होंठों और आंखों को अपने बहुत पास ले आऊं। उसकी ठोड़ी पर ठोड़ी रखकर पूछूं, 'तुझे विश्वास है न तू खुश रहेगी?' मगर मैं कुछ न कहकर चुपचाप उसे देखती रहती। वह मुसकराती और कोई धुन गुनगुनाने लगती। फिर एकाएक उठ जाती।

"ममी मुझे ढूंढ़ रही होंगी!" वह कहती। "अभी आती हूं। तू तब तक मछलियों से जी बहला। आंटी से कहना पड़ेगा कि अब तेरे लिए भी···।"

"मेरे लिए क्या?"

"उन्हीं से कहूंगी, तू क्यों पूछती है?"

वह चली जाती, तो सजा हुआ ड्राइंग-रूम बहुत अकेला हो जाता। मैं

खिड़की के पास चली जाती। खिड़की के परदे, किवाड़ सब ठण्डे लगते। सांस अन्दर रुकती-सी प्रतीत होती। जल्दी-जल्दी सांस लेती कि कहीं ब्रांकाइटिस या वैसी कोई बीमारी न हो गई हो। शारदा की याद आती। ब्रांकाइटिस का दौरा पड़ता था, तो उसके मुंह से बात नहीं निकलती थी।

लान में किन्नी और पप्पू खेल रहे होते। एक-दूसरे के पीछे दौड़ते, किलकारियां भरते हुए। किन्नी को गिराकर पप्पू उसके पेट पर सवार हो जाता। किन्नी उठने के लिए छटपटाती, हाथ-पैर पटकती, पर वह उसके कन्धों को हाथों से दबाए उसे ज़मीन से चिपकाए रहता। जितनी ही वह कोशिश करती, उतना ही उसे दबा देता। किन्नी चीखने लगती, तो एकाएक छोड़कर भाग खड़ा होता। किन्नी रोती हुई उठती, फ्रॉक से आंसू पोंछती और पल-भर रुआंसी रहकर उसके पीछे दौड़ने लगती। पप्पू उसे धमकाता। वह मुंह विचका देती। फिर दोनों हंसने लगते। एक चिड़िया घास की तिगलियां तोड़-तोड़कर मुंह में भरती जाती...।

शोभा से कितनी-कितनी बातें पूछा करती थी। वे मछलियां जीती किस तरह से हैं? खाने को उन्हें क्या दिया जाता है? कैसे दिया जाता है? उनकी जिन्दगी कितने दिनों की होती है? अण्डे कहां देती हैं? और एक बार पूछ लिया था, "यहां पांच-छः तरह की मछलियां एक-एक ही तो हैं। इनकी इमोशनल लाइफ...?"

शोभा ने हंसकर फिर वही बात कह दी थी, "अरे, मैं तो आंटी से कहना भूल ही गई। अब ज़रूर कह दूंगी कि जल्दी से तेरे लिए...।"

मुझे यह मजाक अच्छा न लगता। वह न जाने क्या सोचती थी कि मैं टैंक के पास देर-देर तक क्यों खड़ी रहती हूं। मैं उसे क्या बताती कि मैं वहां क्या देखने जाती हूं। कैलिकोज़ के पैरों की लचक? ब्लैक मूर के जबड़ों का खुलना और बन्द होना? बिल्लौरी पानी में तैरती सुनहरी मछलियां अच्छी लगती थीं, मगर हर बार देखकर मन में उदासी भर जाती थी। सोचती, कैसे रह पाती हैं ये? खुले पानी के लिए कभी इनका जी नहीं तरसता? कभी इन्हें महसूस नहीं होता कि ये सब एक-एक और अकेली हैं? कभी ये एक-दूसरी से कुछ कहना चाहती हैं? या कभी शीशे से इसलिए टकराती कि शीशा टूट जाए? शीशे के और आपस के बन्धन से मुक्त हो ज

शोभा कहती, "देख, यह ओरिण्डा है, यह फैन टेल है। साल में एक बार, वसन्त में, ये अण्डे देती हैं। कुल दो साल की इनकी जिन्दगी होती है। हवा इन्हें एरिएटर से दी जाती है। पानी का टेम्परेचर पचास से साठ डिग्री फैरनहाइट के बीच रखना होता है। खाने को इन्हें ड्राइफूड देते हैं, ब्रेन भी खा लेती हैं। नीचे समुद्री घास इसलिए बिछाई जाती है कि···।"

मेरे मुंह से उसांस निकल पड़ती। जाने वह उसका भी क्या मतलब लेती थी। मेरे कन्धे पर हाथ रखकर मुझे अपने साथ सटाए कुछ सोचती-सी खड़ी रहती। उस दिन उसने पूछ लिया, "सच-सच बता, तू किसीसे प्यार तो नहीं करती?"

मुझे शैतानी सूझी। कहा, "करती हूं।"

उसने मेरे गाल अपने हाथ में ले लिये और मेरी आंखों में देखते हुए पूछा, "किससे?"

मैं हंस दी। कहा, "तुझसे, ममी से, मछलियों से।"

उसके नाखून गालों में चुभने लगे। वह उसी तरह मुझे देखती रही। मैंने होंठ काटकर पूछा, "और तू?"

उसने हाथ हटाए, तो लगा मेरे गाल छील दिए हों। उसकी भौंहों के नीचे वही हल्की-सी छाया कांप गई—पर उतनी हल्की नहीं। फुसफुसाने की तरह उसने कहा, "किसीसे भी नहीं।"

जाने क्यों मेरा मन भर आया। चाहा उससे कहूं शादी न करे। पर कहा नहीं गया। सोचा, उसकी शादी से एक रोज़ पहले ऐसी बात कहना ठीक नहीं होगा···।

सुभाष को आना था, लौटने की जल्दी थी। बार-बार ममा को याद दिलाती थी कि वृहस्पति को ज़रूर चल देना है—ऐसा न हो कि वह आए और हम घर पर न हों। ममा सुनकर व्यस्त हो उठतीं। सुभाष को आने के लिए लिखा खुद उन्होंने ही था। बचपन से उसे जानती थीं। जब उसके पिता की मृत्यु हुई, कुछ दिनों के लिए उसे अपने यहां ले आई थीं। वह तब छोटा नहीं था। बी० ए० में पढ़ता था। हम लोग बहुत छोटे रहे होंगे, हमें उसकी याद नहीं। ममा से ज़िक्र सुना करते थे। वह हफ्ता-भर रहा था। सत्रह साल का था तब। बातों से लगता था जैसे बहुत बड़ा हो। डैडी के साथ फिलॉसफी की

बातें किया करता था। ममा उसकी बातें सुनते-सुनते काम करना भूल जाती थीं। डैडी गुस्सा होते थे। ममा को दुःख होता कि वह उस छोटी-सी उम्र में ऐसी-ऐसी बातें क्यों करने लगा है। वह उतना पढ़ता नहीं था जितना सोचता था। बात करते हुए भी लगता था जैसे बोल न रहा हो, कुछ सोच रहा हो। अपने घुंघराले बालों में उंगलियां उलझाए उनकी गांठें खोलता रहता था। खाने को कुछ भी दे दिया जाए, चुपचाप खा लेता था। पूछा जाए कि नमक कम-ज्यादा तो नहीं, तो चौंक उठता था। 'यह तो मैंने नोट ही नहीं किया, अब चखकर बताता हूं।' बताने के लिए सचमुच चीज़ चखकर देखता था। ममा जब भी उसका ज़िक्र करतीं, उनकी आंखें भर आतीं। कहतीं कि इस लड़के को ज़िन्दगी में मौका मिलता, तो जाने क्या बनता। जब पता चला कि वह ए० जी० ऑफिस में क्लर्क लग गया है, तो ममा से पूरा दिन खाना नहीं खाया गया था।

"ममी, सुभाष हम लोगों का क्या लगता है?" हम थोड़ा बड़े हुए तो ममा से पूछा करते थे। ममा मुझे और बीरे को बांहों में लिये हुए कहतीं, "वह तुम लोगों का वह लगता है जो और कोई नहीं लगता।" मैं और बीरे बाद में अनुमान लगाया करते, मगर किसी नतीजे पर न पहुंच पाते। आखिर बीरे कहता, "वह हम लोगों का कुछ भी नहीं लगता।"

इस पर मेरी-उसकी लड़ाई हो जाती।

बाद के सालों में कभी-कभी उसकी खबर आया करती थी। ममा बतातीं कि प्राइवेट एम० ए० करके अब लेक्चरर हो गया है। उसे बाहर जाने के लिए स्कॉलरशिप मिल रहा है, मगर उसने नहीं लिया। कहता है जिस सब्जेक्ट के लिए स्कॉलरशिप मिल रहा है, उसमें रुचि नहीं है। साल गुज़रते जाते। ममा उसे तीन-तीन चिट्ठियां लिखतीं, तो उसका जवाब आता। वे सबको पढ़कर सुनातीं, दिन-भर उसकी बातें करती रहतीं, फिर चिट्ठी संभालकर रख देतीं। सुना रही होतीं, तो उत्सुकता सिर्फ मुझी को होती। बीरे मज़ाक करता। कहता, उस नाम का कोई आदमी है ही नहीं, ममा खुद चिट्ठी लिखकर अपने नाम डाल देती हैं। डैडी सुनते हुए भी न सुनते, अखबार या किताब में आंखें गड़ाए रहते। कभी-कभी उनकी भौंहें तन जातीं और अपनी उकताहट छिपाने के लिए वे उठ जाते। मैं ममा से पूछ लेती, "ममी, ये चिट्ठी तो लिख देते

हैं, हमारे यहां कभी आते क्यों नहीं ?"

"कोई हो, तो आए !" वीरे कहता।

ममा बिगड़ उठतीं। उन्हें लगता वीरे अपशकुन की बात कह रहा है। वीरे हंसता हुआ लॉजिक झाड़ने लगता। "ममी, किसी चीज़ के होने का सबूत यह होता है..."

"वह चीज़ नहीं, आदमी है !" लगता, ममा उसके मुंह पर चपत मार देंगी। मैं बांह पकड़कर वीरे को दूसरे कमरे में ले जाती। कहती, "वीरे, तू इतना बड़ा होकर भी ममी को तंग क्यों करता है ?"

वीरे मुसकराता रहता, जैसे डांट या प्यार का उसपर कोई असर ही न होता हो। कहता, "उन्हें चिढ़ाने में मुझे मज़ा आता है।"

"और वे जो रोती हैं...?"

"इसीलिए तो चिढ़ाता हूं कि रोने की जगह हंसने लगें !"

दो साल हुए ममा सुभाष के ब्याह की खबर लाई थीं। ट्यूमर के इलाज के लिए दिल्ली गई थीं तो अचानक उससे भेंट हो गई थी। छुट्टी में वह अपनी पत्नी के साथ वहां आया हुआ था। ममा ने उसकी पत्नी को दूर से देखा था। वह दुकान के अन्दर शॉपिंग कर रही थी। सुभाष ने उन्हें मिलाने का उत्साह नहीं दिखाया, व्यस्तता दिखाते हुए झट से विदा ले ली। कहा, पत्र लिखेगा। ममा बहुत बुरा मन लेकर आईं। बोलीं, "सुभाष अब वह सुभाष नहीं रहा, बिलकुल और हो गया है। शरीर पहले से भर गया है ज़रूर, मगर आंखों के नीचे स्याही उतर आई है। बातचीत का लहजा भी बदल गया है। खोया-खोया उसी तरह लगता है, मगर वह खुलापन नहीं है जो पहले था। कहीं अपने अन्दर रुका हुआ, बंधा हुआ-सा लगता है।" ममा के पूछने पर कि उसने ब्याह की खबर क्यों नहीं दी, वह बात को टाल गया। एक ही छोटा-सा उत्तर सब बातों का उसने दिया—'पत्र लिखूंगा।'

ममा कई दिन उस बात को नहीं भूल पाईं। ट्यूमर से ज़्यादा वह चीज़ उन्हें सालती रही। सुभाष—वह सुभाष जिसे वे जानती थीं, जिसे वे घर लाई थीं, जिसे वे पत्र लिखा करती थीं, जिसकी वे बातें किया करती थीं, वह तो ऐसा नहीं था...ऐसा उसे होना नहीं चाहिए था...तेरह साल हो गए थे उसे देखे हुए, मिले हुए, फिर भी...।

"पत्नी सुन्दर मिल गई होगी।" मैंने ममा से कहा, "तभी न आदमी सब नाते-रिश्ते भूल जाता है।"

ममा पल-भर अवाक्-सी मेरी तरफ देखती रहीं। जैसे अचानक उन्हें लगा कि मैं बड़ी हो गई हूं : सयानी बात कर सकती हूं। उन्होंने मेरे बालों को सहला दिया और कहा, "नाता-रिश्ता नहीं है, फिर भी मैं सोचती थी कि···।"

"पत्नी उसकी सुन्दर है न ?" मैंने फिर पूछ लिया।

"ठीक से देखा नहीं," ममा अन्तर्मुख-सी बोलीं। "दूर से लगा था सुन्दर है···।"

"तभी···!" शब्द पर अपनी अठारह साल की परिपक्वता का इतना बोझ मैंने लाद दिया कि ममा उस मनस्थिति में भी मुसकरा दीं।

दो साल उसका पत्र नहीं आया। ममा ने भी उसे नहीं लिखा। उस बार मिलने के बाद उनका मन खिच-सा गया था। बातें कभी कर लेतीं, मगर जिद के साथ कहतीं कि पत्र नहीं लिखेंगी। बीरे मज़ाक में कह देता, "सुभाष की चिट्ठी आई है!" ममा जानते हुए भी अविश्वास न कर पातीं। पूछ लेतीं, "सचमुच आई है ?" मैं उलझती कि वे क्यों नहीं समझतीं कि बीरे झूठ बोलता है। ममा छिली-सी हो रहतीं। अकेले में मुझसे कहतीं, "जाने उसे क्या हो गया है। यही मनाती हूं खुश हो, खुश रहे। उस दिन ठीक से बात कर लेता, तो इतनी चिन्ता न होती···।"

मैं सिर हिलाती और तीलियां गिनती रहती। उन दिनों आदत-सी हो गई थी। जब भी ममा के पास बैठती, माचिस खोल लेती और तीलियां गिनने लगती।

उस दिन कोई बाहर से आए थे। ममा और डैडी को तब से जानते थे, जब वे स्यालकोट में थे। एक ही गली में शायद सब लोग साथ रहते थे। यहां अपनी एजेन्सी देखने आए थे। डैडी को पता चला तो घर खाने पर बुला लाए। कुछ काम भी था शायद उनसे। ममा इससे खुश नहीं थीं। स्यालकोट में शायद वे उतने बड़े आदमी नहीं थे। ममा उन दिनों की नज़र से ही उन्हें देखती थीं।

वे आए और काफी देर बैठे रहे। बहुत दिनों बाद डैडी ने उस दिन ह्विस्की पी। खूब घुल-मिलकर बातें करते रहे। पहले कमरे में दोनों अकेले

थे, फिर उन्होंने ममा को भी बुला लिया। ममा पत्थर की मूर्ति-सी बीच में जा बैठीं। पानी या पापड़ देने के लिए मैं बीच-बीच में अन्दर जाती थी। मुझे देखकर उन्होंने कहा, "यह बिलकुल वैसी नहीं लगती जैसी उन दिनों कुन्तल लगा करती थी ? इतने साल न बीत गए होते, और मैं बाहर कहीं इसे देखता, तो यही सोचता कि···।"

मुझे अच्छा लगा। ममा उन दिनों की अपनी तसवीरों में बहुत सुन्दर लगती थीं। मैं ममा से कहा भी करती थी। मैं भी उन जैसी लगती हूं, पहले यह मुझसे किसी ने नहीं कहा था।

एक बार अन्दर गई, तो वे किन्हीं डॉक्टर शम्भुनाथ का ज़िक्र कर रहे थे। कह रहे थे, "पार्टीशन में डॉक्टर शम्भुनाथ का सारा खानदान ही तबाह हो गया—एक लड़के को छोड़कर! जिस दिन एक मुसलमान ने केस देखकर लौटते हुए डॉक्टर शम्भुनाथ को छुरा घोंपकर मारा···।"

ममा किन्नी को सुलाने के बहाने उठ आईं। किन्नी पहले से सो गई थी। मगर ममा लौटकर नहीं गईं। गुमसुम-सी चारपाई की पायंती पर बैठी रहीं। मैंने पास जाकर कहा, "ममा!" तो ऐसे चौंक गईं जैसे अचानक कील पर पैर रखा गया हो।

खाने के वक्त फिर वही ज़िक्र उठ आया। वे कह रहे थे, "शम्भुनाथ का लड़का भी खास तरक्की नहीं कर सका। बीवी के मरने के बाद शम्भुनाथ ने किस तरह उसे पाला था! कैसा लाल और गलगोदना बच्चा था। इधर उसका भी एक एक्सीडेंट हो गया है···।"

"सुभाष का एक्सीडेंट हुआ है ?" ममा, जो बात को अनसुनी कर रही थीं, सहसा बोल उठीं। डैडी ने खाली डूंगा मुझे दे दिया कि और मीट ले आऊं। उनके चेहरे से मुझे लगा जैसे यह बात पूछकर ममा ने कोई अपराध किया हो।

मीट लेकर गई, तो ममा रुआंसी हो रही थीं। वह सज्जन बता रहे थे, "···सुना है घर में कुछ ऐसा ही सिलसिला चल रहा था। असलियत क्या है, क्या नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है ? लोग कई तरह की बातें करते हैं। पर उसके एक खास दोस्त ने मुझे बताया है कि वह जान-बूझकर ही चलती मोटर के सामने···"

डैडी ने मुझे फिर किचन में भेज दिया। इस बार मेज पर चावल और चपातियों की जरूरत थी। वापस पहुंची, तो डैडी को कहते सुना, "आई आलवेज़ थॉट द बॉय हैड सुइसाइडल टैंडेंसीज़!"

सुभाष का नया पता ममा ने उन्हीं से लिया था। डैडी कई दिन बिना वजह ममा पर बिगड़ते रहे। खुद ही किसी तरह बात में डॉक्टर शम्भुनाथ का ज़िक्र ले आते, भरी नज़र से ममा की तरफ देखते, और फिर बिना बात उन पर बिगड़ने लगते। बिगड़ते पहले भी थे, मगर इतना नहीं। ममा चुपचाप उनकी डांट सुन लेतीं, उनसे बहस न करतीं। बहस करना उन्होंने लगभग छोड़ दिया था। कड़ी-से-कड़ी बात दम साधकर सुन लेतीं और काम में लग जातीं। कोई काम डैडी की मर्ज़ी के खिलाफ करना होता, तो उसके लिए भी बहस न करतीं, चुपचाप कर डालतीं। डैडी से कुछ कहने या चाहने में जैसे अपना-आप उन्हें छोटा लगता था। घर के खर्च तक के लिए कहने में भी। डैडी अपने-आप जो दे दें, दे दें। कम पड़ता, तो कुनमुना लेतीं, या मुझसे कह लेतीं। मगर मुझे भी डैडी से मांगने न देतीं।

सुभाष को उन्होंने पत्र खुद नहीं लिखा, मुझसे लिखाया। जो कुछ लिखना था, वह मुझे बता दिया; मेरे लिखे को सुधार भी दिया। आशय इतना ही था कि हम एक्सीडेंट की खबर पाकर चिन्तित हैं। चाहते हैं कि एक बार वह आकर मिल जाए। पत्र पूरा करके मैंने ममा से पूछा, "ममी, तुम खुद क्यों नहीं देखने चली जातीं?"

ममा ने सिर हिला दिया। सिर हिलाने से पहले एक बार डैडी के कमरे की तरफ देख लिया। डैडी किसीसे बात कर रहे थे। "आना होगा, आ जाएगा।" ममा ने कुछ तटस्थता और अन्यमनस्कता के साथ कहा। शायद उन दिनों हाथ ज़्यादा तंग था, इसलिए। घर का खर्च वे बहुत जुगत से चला रही थीं। उन्हीं दिनों शोभा की शादी में जाना था। उसके लिए भी पैसे की जरूरत थी।

जवाब में चिट्ठी जल्दी ही आ गई। मेरे नाम थी। पहली चिट्ठी जो किसी अपरिचित ने मेरे नाम लिखी थी। लिखा था—'फरवरी के अन्त में आएगा।' और मुझे—'ब्राउन कैट, तू इतनी बड़ी हो गई कि अंग्रेज़ी में चिट्ठी लिखने लगी?'

ब्राउन कैट वह तब भी मुझे कहा करता था, ममा बताती थीं। बिल्ली की तरह ही गोद में लिटाए सिर और पीठ पर हाथ फेरता रहता था। मैं खामोश लड़की थी। दम घुटने को आ जाता, तो भी विरोध नहीं करती थी। किन्नी बहुत ज़िद करती है, मैं नहीं करती थी। ज़रा-सी बात हो, वह चीख-चीखकर सारा घर सिर पर उठा लेती है। आठ साल की होकर पांच साल के बच्चों की तरह रोती-रूठती है। ममा उसके लाड़ मानती भी हैं। कहती हैं कि यह उनकी अपनी ज़रूरत है। और कोई छोटा बच्चा नहीं है, एक वही है जिससे वे जी बहला सकती हैं। मुझे अच्छा नहीं लगता। किन्नी डॉल की तरह प्यारी लगती है। फिर भी सोचती हूं बड़ी होकर भी डॉल ही बनी रही तो? कॉन्वेंट में एक ऐसी लड़की हमारे साथ पढ़ती थी। नाम भी था डॉली। उसकी आदतों से सबको चिढ़ होती थी, मुझे खास तौर से। अच्छे-भले हाथ-पैर, तन्दुरुस्त शरीर, और घूम रहे हैं डॉल बने। छिः!

पर ममा नहीं मानतीं। बहस करने लगती हैं। मन में शायद सोचती हैं कि मैं किन्नी से ईर्ष्या करती हूं—मैं भी और बीरे भी, क्योंकि बीरे किन्नी के गाल मसलकर उसे रुला देता है। उसकी कापियां, पेंसिलें छीनकर छिपा देता है। मैं उसे बिना नहाए नाश्ता नहीं देती। अपने से कंघी करने को कहती हूं। ममा ताना दे देती हैं, तो बुरा लगता है। कई बार वे कह देती हैं, "तुम लोगों के वक्त हालात अच्छे थे। तुम्हें कॉन्वेंट में पढ़ा दिया, सब कुछ कर दिया, इस बेचारी के लिए क्या कर पाती हूं?" मन में खीझ उठती है, पर चुप रह जाती हूं। कई बार बात ज़बान तक आकर लौट जाती है। मैं जो एम० ए० करना चाहती थी, वह? डरती हूं ममा रोने लगेंगी। दिन में किसी-न-किसी से कोई बात हो जाती है जिससे वे रो देती हैं। मैं जान-बूझकर कारण नहीं बनना चाहती।

सुभाष की गाड़ी रात को देर से पहुंची। बीरे लाने के लिए स्टेशन पर गया था। हम लोगों ने उम्मीद लगभग छोड़ दी थी। दो बार उसने प्रोग्राम बदला था। हम लोग घर की सफाइयां कर रहे होते कि तार आ जाता: 'चार दिन के लिए अम्बाला चला आया हूं, हफ्ते तक आऊंगा।' फिर, 'काम से दिल्ली रुकना है, दूसरा तार दूंगा।' मुझे बहुत उलझन होती, गुस्सा भी आता।

उससे ज्यादा अपने पर और ममा पर। शोभा की शादी के बाद हम लोग एक दिन भी वहां नहीं रुकीं, पहली गाड़ी से चली आईं। आकर कमरे ठीक करने में बांहें दुखाती रहीं और आप हैं कि अम्बाला जा रहे हैं, दिल्ली रुक रहे हैं। उस दिन तार मिला, 'पंजाब मेल से आ रहा हूं।' मैंने ममा से कह दिया कि मैं घर ठीक नहीं करूंगी। मेरी तरफ से कोई आए, न आए। बीरे कह रहा था, "ज़रूरत भी नहीं है। अभी दूसरा तार आ जाएगा।" दूसरा तार तो नहीं आया, पर बीरे को एक बार स्टेशन जाकर लौटना ज़रूर पड़ा। पंजाब मेल उस दिन छः घंटे लेट थी।

ममा को बुरा न लगे, इसलिए घर मैंने ठीक कर दिया। मगर खुद सोने चली गई। डैडी भी अपने कमरे में जाकर सो गए थे। ममा किन्नी को सुलाकर मेरे पास आकर लेट गईं। शायद मुझे जगाए रखने के लिए। मैं कुनमुनाकर कहती रही कि ममी, अब सो जाने दो, हालांकि नींद आई नहीं थी। ममा ने बहुत दिनों बाद बच्चों की तरह मुझे दुलारा। मेरे गाल चूमती रहीं। मुंह में कितना कुछ बुदबुदाती रहीं—"मेरी रानी बच्ची · अच्छी बच्ची!" मुझे गुदगुदी-सी लगी और मैं उठकर बैठ गई। कहा, "क्या कर रही हो, ममी?" ममा ने जैसे सुना नहीं। आंखें मूंदकर पड़ी रहीं। केवल एक उसांस उनके मुंह से निकल पड़ी।

घोड़े की टापों और घुंघरुओं की आवाज़ से ही मुझे लग गया था कि वह तांगा सुभाष को लेकर आ रहा है। और कई तांगे सड़क से गुज़रे थे, मगर उनकी आवाज़ से ऐसा नहीं लगा था। शायद इसलिए कि आवाज सुनाई तब दी जब सचमुच आंखों में नींद भर आई थी। आंखें खोलकर सचेत हुई, तो बीरे दरवाज़ा खटखटा रहा था। वह साइकिल से आया था। ममा जल्दी से उठकर दरवाज़ा खोलने चली गईं।

अजीब-सा लग रहा था मुझे। बैठक में जाने से पहले कुछ देर परदे के पीछे रुकी रही। जैसे ऊंचे पुल से दरिया में डाइव करना हो। कॉन्वेंट के दिनों में बहुत बोल्ड थी। किसीके भी सामने बेझिझक चली जाती थी। हरेक से बेझिझक बात कर लेती थी। संकोच में दिखावट लगती थी। मगर उस समय न जाने क्यों मन में संकोच भर आया।

संकोच शायद अपनी कल्पना का था। उस नाम के एक आदमी ... पहले

से जान रखा था—सुनी-सुनाई बातों से। कितने ही क्षण उस आदमी के साथ जिये भी थे—ममा की डबडबाई आंखों में देखते हुए। उसकी एक तसवीर मन में बनी थी जो डर था अब टूटने जा रही है। कोई भी आदमी क्या वैसा हो सकता है जैसा हम सोचकर उसे जानते हैं? वैसा होता, तो परदा उठाने पर मैं एक लम्बे ऊंचे आदमी को सामने देखती जिसके बाल बिखरे होते, दाढ़ी बढ़ी होती और जो मुझे देखते ही कहता, 'ब्राउन कैट, तू तो अब सचमुच लड़की नज़र आने लगी!'

मगर जिसे देखा वह मंझले कद का गोरा आदमी था। इस तरह खड़ा था जैसे कठघरे में बयान देने आया हो। माथे पर घाव का गहरा निशान था। क़मीज़ का कॉलर नीचे से उधड़ा था जिससे वह उसे हाथ से पकड़े था। डैडी से कह रहा था, "मैंने नहीं सोचा था गाड़ी इतनी देर से पहुंचेगी। ऐसे गलत वक्त आकर आप सबकी नींद खराब की...।"

मैंने हाथ जोड़े, तो परेशान-सी मुसकराहट के साथ उसने सिर हिला दिया। मुंह से कुछ नहीं कहा। पूछा भी नहीं, यह नीरू है?

आधी रात बिना सोए निकल गई। डैडी भी ड्रेसिंग गाउन में सिकुड़कर बैठे रहे। मैंने दो बार काफी बनाकर दी। बीरे किचन में आकर मुझसे कहता, "एक प्याली में नमक डाल दे। मीठी काफी ऐसे आदमी को अच्छी नहीं लगती।"

"तूने तो सारी जिन्दगी ऐसे आदमियों के साथ ही गुज़ारी है न!" मैं उसे हटाती कि भाप उसकी या मेरी उंगलियों से न छू जाए।

"सारी न सही, तुझसे तो ज्यादा गुज़ारी है।" वह उंगली से मेरे केतली वाले हाथ पर गुदगुदी करने लगता। "स्टेशन से अकेला साथ आया हूं।"

"हट जा, केतली गिर जाएगी!" मैं उसे झिड़क देती। बीरे मुंह बनाकर उस कमरे में चला जाता। कहता, "देखिए साहब, और बातें बाद में कीजिएगा, पहले इस लड़की को थोड़ी तमीज़ सिखाइए। बड़े भाई की यह इज़्ज़त करना नहीं जानती। इससे साल-भर बड़ा हूं, मगर मुझे ऐसे झिड़क देती है जैसे अभी सेकण्ड स्टैंडर्ड में पढ़ता हूं। कह रही थी कि आप काफी में चीनी की जगह नमक लेते हैं। मैंने मना किया तो मुझपर बिगड़ने लगी।"

बीरे न होता, तो शायद वह बिलकुल ही न खुल पाता। कभी बीरे अपने

कॉलेज का कोई किस्सा सुनाने लगता, कभी बताने लगता कि उसने स्टेशन पर उसे कैसे पहचाना। "ये गाड़ी से उतरकर इधर-उधर देख रहे हैं और मैं बिलकुल इनके पास खड़ा मुसकरा रहा हूं। देख रहा हूं कि कब ये निराश होकर चलने को हों, तो इनसे बात करूं। ये और सब लोगों को तलाशती आंखों से देखते हैं, मुझे ही नहीं देखते जो इनके पास इनसे सटकर खड़ा हूं। मैं इनके उतरने से पहले से जानता हूं कि जिसे रिसीव करने आया हूं, वह यही परेशान-हाल आदमी है···!"

ममा टोकतीं कि वह किसी और को भी बात करने दे। मगर बीरे अपनी बात किए जाता। हम सब हंसने लगते, मगर सुभाष गम्भीर बना रहता। थोड़ा मुसकरा देता, बस। कभी मुझे लगता कि वह बन रहा है। मगर उसकी आंखों में देखती, तो लगता कि वह कहीं गहरे में डूबा है जहां से उबर नहीं पा रहा। उसका हाथ बार-बार उधड़े कॉलर को ढकने के लिए उठ जाता।

"कमीज़ सुबह नीरू को देना, कॉलर सी देगी।" ममा ने कहा तो वह सकुचा गया। पहली बार आंख भरकर उसने मुझे देखा। फिर उसने उधड़े कॉलर को ढकने की कोशिश नहीं की।

हैरान थी कि सबसे ज्यादा बातें डैडी ने कीं। उन्होंने ही उससे सब कुछ पूछा। एक्सीडेंट कैसे हुआ? अस्पताल में कितने दिन रहना पड़ा? ज़ख्म कहां-कहां हैं? कोई गहरी चोट तो नहीं? वे आजकल कहां हैं? मैरिड लाइफ कैसी चल रही है? ममा को अच्छा लगा कि यह सब उन्हें नहीं पूछना पड़ा। उन्हें बल्कि डर था कि डैडी इस बार ज्यादा बात नहीं करेंगे। दो मिनट इधर-उधर की बातें करके उठ जाएंगे। फिर सुबह पूछ लेंगे, 'नाश्ता कमरे में करना चाहोगे, या बाहर मेज़ पर?'

उसे भी शायद डैडी से ही बात करना अच्छा लग रहा था। हम सब की तरफ से एक तरह से उदासीन था। हममें से कोई बात करे, तभी उसकी तरफ देखता था। मैं देख रही थी कि ममा एकटक उसे ताक रही हैं, जैसे आंखों से ही उसके माथे के ज़ख्म को सहला देना चाहती हों। बीच में वे उठीं और साथ के कमरे से अपना शाल ले आईं। बोलीं, "ठण्ड है, ओढ़ लो। ओढ़कर बात करते रहो।"

उसने शाल भी बिना कुछ कहे ओढ़ लिया और गुड्डा-सा बना बैठा रहा।

डैडी जो कुछ पूछते रहे, उसका जवाब देता रहा। ड्राइवर अच्छा था···शायद ब्रेक भी काफी अच्छी थी···ज्यादा चोट नहीं आई। मडगार्ड से टक्कर लगी, पहिया ऊपर नहीं आया···दस दिन में ज़ख्म भर गए। बायें हाथ की कुहनी ठीक से नहीं उठती···डॉक्टरों का कहना है उसमें पांच-छः महीने लगेंगे। उसके बाद भी पूरी तरह शायद ही ठीक हो।

मुझे तब भी लग रहा था कि वह अन्दर ही कहीं डूबा है। उसके होंठ रह-रहकर किसी और ही विचार से कांप जाते हैं। मन हो रहा था उससे वे सब बातें न पूछी जाएं, उसे चुपचाप सो जाने दिया जाए। उसका बिस्तर बिछा था, उसीपर वह बैठा था। सहसा मुझे लगा कि तकिये का गिलाफ ठीक नहीं है, बीच से सिला हुआ है। चढ़ाते वक्त ध्यान नहीं गया था। मैं चुपचाप तकिया उठाकर गिलाफ बदलने ले गई।

दूसरा धुला हुआ गिलाफ नहीं मिला। सारे खाने, ट्रंक छान डाले। एक कोरा गिलाफ था, कढ़ा हुआ। उन दिनों का जब नई-नई कढ़ाई सीखने लगी थी। आखिर वही चढ़ाकर तकिया बाहर ले आई।

आकर देखा, तो उसका चेहरा बदला हुआ लगा। माथे पर शिकन थे और सिगरेट के छोटे-से टुकड़े से वह जल्दी-जल्दी कश खींच रहा था।

ममा का चेहरा फक् हो रहा था। डैडी बहुत गम्भीर होकर सुन रहे थे। वह एक-एक शब्द को जैसे चबा रहा था, "···नहीं तो···नहीं तो मेरे हाथों उसकी हत्या हो जाती···यह नहीं कि मैं समझता नहीं था···उसने मुझसे कह दिया होता, तो बात दूसरी थी···हर इन्सान को अपनी ज़िदगी चुनने का अधिकार है···मगर इस तरह···मुझे उससे ज्यादा अपने से नफरत हो रही थी···।"

ममा ने गहरी नज़र से मुझे देखा कि मैं वहां से चली जाऊं। मगर मैं अनबूझ बनी रही, जैसे इशारा समझा ही न हो। पैरों में चुनचुनाहट हो रही थी। मन हो रहा था कि उन्हें दरी से खुजलाने लगूं। पुलोवर के नीचे बगलों में पसीना आ रहा था।

कमरे में खामोशी छा गई थी। बीरे ऐसे आंखें झपक रहा था जैसे अचानक उनपर तेज़ रोशनी आ पड़ी हो। होंठ उसके खुले थे। डैडी ड्रेसिंग गाउन के अन्दर से अपनी बांह को सहला रहे थे। ममा काले शाल में ऐसे आगे को झुक गई थीं जैसे कभी-कभी ट्यूमर के दर्द के मारे झुक जाया करती थीं।

बाहर भी खामोशी थी। खिड़की के सीखचों में से आती हवा परदे में से झांककर लौट जाती थी।

तभी डैडी ने घड़ी की तरफ देखा और उठ खड़े हुए। "अब सो जाना चाहिए," उन्होंने कहा, "तीन बज रहे हैं।"

सुबह जो चेहरा देखा, उसने मुझे और चौंका दिया। बढ़ी हुई दाढ़ी, पहले से सांवला पड़ा रंग···एक हाथ से अपने घुंघराले बालों की गांठें सुलझाता हुआ वह अखबार पढ़ रहा था।

"आप के लिए चाय ले आऊं ?" पहली बार मैंने उससे सीधे कुछ पूछा।

"हां-हां," उसने कहा और अखबार से नजर उठाकर मेरी तरफ देखा। मैं कई क्षण उसकी आंखों का सामना किए रही। विश्वास नहीं था कि वह दूसरी बार इस तरह मेरी तरफ देखेगा।

"रात को हम लोगों ने खामख्वाह आपको जगाए रखा !" मैंने कहा। "आज रात को ठीक से सोइएगा।"

उसके होंठों पर ऐसी मुसकराहट आई जैसे उससे मजाक किया गया हो। "गाड़ी में खूब गहरी नींद आती है।" उसने कहा।

"आप आज चले जाएंगे ?"

उसने सिर हिलाया। "एक दिन के लिए भी मुश्किल से आ पाया हूं।"

"वहां जरूरी काम है ?"

"बहुत जरूरी नहीं, लेकिन काम है। पहली नौकरी छोड़ दी है, दूसरी के लिए कोशिश करनी है।"

"एक दिन बाद जाकर कोशिश नहीं की जा सकती ?" एकाएक मुझे लगा कि मैं यह सब क्यों कह रही हूं। डैडी सुनेंगे, तो क्या सोचेंगे ?

"परसों एक जगह इण्टरव्यू है।" उसने कहा।

"वह तो परसों है न। कल तो नहीं··।" और मैं बाहर चली आई। उसकी आंखों में और देखने का साहस नहीं हुआ।

वह बात भी उसने कही जो मैंने चाहा था वह कहे। दोपहर को खाने के बाद किन्नी को गोद में लिए हुए उसने कहा, "उन दिनों नीरू इससे छोटी थी, नहीं ? बिलकुल ब्राउन कैट लगती थी ! ऐसे खामोश रहती थी जैसे मुंह में जबान ही न हो।"

"मैं भी तो खामोश रहती हूं !" किन्नी मचल उठी। "मैं कहां बोलती हूं ?"

उसने किन्नी को पेट के बल गोद में लिटा लिया और उसकी पीठ थपथपाने लगा। मैंने सोचा था किन्नी इसपर शोर मचाएगी, हाथ-पैर पटकेगी। मगर वह बिलकुल गुमसुम होकर पड़ रही। मैं देखती रही कि कैसे उसके हाथ पीठ को थपथपाते हुए ऊपर जाते हैं, फिर नीचे आते हैं, कमर के पास हल्की-सी गुदगुदी करते हैं, और कूल्हे पर चपत लगाकर फिर सिर की तरफ लौट जाते हैं। हममें से कोई किन्नी से इस तरह प्यार करता, तो वह उसे नोचने को हो आती। सुभाष के हाथ रुके, तो उसने झुककर किन्नी के बालों को चूम लिया। कहा, "सचमुच तू बहुत खामोश लड़की है !" किन्नी उसी तरह पड़ी-पड़ी हंसी। और भी कितनी देर वह उसकी पीठ सहलाता रहा। बीच-बीच में उसकी आंखें मुझसे मिल जातीं। मुझे लगता जैसे वह दूर कहीं बियाबान में देख रहा हो। मुझे अपना-आप भी अपने से दूर बियाबान में खोया-सा लगता। यह भी लगता कि मैं आंखों से कह रही हूं कि जिसे तुम सहला रहे हो, वह ब्राउन कैट नहीं है। ब्राउन कैट मैं हूं···!

डैडी दिन-भर घर में रहे, काम पर नहीं गए। इस कमरे से उस कमरे में, उस कमरे से इस कमरे में आते-जाते रहे। बहुत दिनों से उन्होंने सिगार पीना छोड़ रखा था, उस दिन पुराने डब्बे में से सिगार निकालकर पीते रहे। दो-एक बार उन्होंने उससे बात चलाने की कोशिश भी की। "जहां तक जीने का प्रश्न है···" मगर बात आगे नहीं बढ़ी। उसने जैसे कुछ और सोचते हुए उनकी बात का समर्थन कर दिया। डैडी ने हरेक से एक-एक बार कहा, "आज सिगार पी रहा हूं, तो अच्छा लग रहा है। मुझे इसका टेस्ट ही भूल गया था !" शाम को बीरे उसे घुमाने ले गया। ममा उस वक्त मन्दिर जा रही थीं। मैं भी उन लोगों के साथ बाहर निकली। रोज बीरे और मैं घूमने जाते हैं, सोचा आज भी साथ जाऊंगी। डैडी सिगार के धुएं में घिरे बैठक में अकेले बैठे थे। मुझे बाहर निकलते देखकर बोले, "तू भी जा रही है नीरू ?"

मेरी ज़बान अटक गई। किसी तरह कहा, "ममा के साथ मन्दिर जा रही हूं।" अहाते से बाहर आकर ममा के साथ ही मुड़ भी गई। रास्ते-भर सोचती रही कि क्यों नहीं कह सकी कि बीरे के साथ घूमने जा रही हूं ? कह देती, तो

क्या डैडी जाने से मना कर देते ?

वीरे लौटकर आया, तो बहुत उत्साहित था। कह रहा था, "मैं आपको पढ़ने के लिए भेजूंगा, आप पढ़कर लौटा दीजिएगा। वट इट इज़ एंटायरली बिट्वीन यू एण्ड मी !" दोनों बैठक में थे। मेरे आते ही बीरे चुप कर गया, जैसे उसकी चोरी पकड़ी गई हो। फिर मुझसे बोला, "तेरे लिए, नीरू, आज एक बॉल पाइण्ट देखकर आया हूं। तू कितने दिनों से कह रही थी। कल जाऊंगा तो लेता आऊंगा। या तू मेरे साथ चलना।"

सोचा, यह मुझे रिश्वत दे रहा है···पर किस बात की ?

वीरे अपना माउथ आर्गन ले आया। एक के बाद एक धुन बजाने लगा। "दिस इज़ माई फ्रेंड्'स फेवरिट !···" एक धुन सुना चुकने के बाद उसने कहा। पर सुभाष उस वक्त मेरी तरफ देख रहा था।

"आप समझ रहे हैं न ?" वीरे को लगा, सुभाष ने उसका मतलब नहीं समझा, "वही फ्रेंड जिसका मैंने जिक्र किया था। माई ओनली फ्रेंड !"

मैं चाह रही थी कि कोई और भी उससे कहे कि वह एक दिन और रुक जाए। मगर किसीने नहीं कहा, ममा ने भी नहीं। मन्दिर से आकर शायद डैडी से उनकी कुछ बात हो गई थी। मैं उस वक्त रात के लिए कतलियां बना रही थी। सब लोग कहते थे कि मैं कतलियां अच्छी बनाती हूं। पर मुझे लग रहा था कि आज अच्छी नहीं बनेंगी। जल जाएंगी, या कच्ची रह जाएंगी। तभी ममा डैडी के पास से उठकर आईं। नल के पास जाकर उन्होंने मुंह धोया। एक घूंट पानी पिया और तौलिया ढूंढ़ती हुई चली गईं।

खाना खिलाते हुए मैंने उससे पूछा, "कतलियां अच्छी बनी हैं ?"

वह चौंक गया, उसी तरह जैसे ममा बताती थीं। आधी खाई कतली प्लेट से उठाता हुआ बोला, "अभी बताता हूं···।"

खाना खाने के बाद वह सामान बांधने लगा। सूटकेस में चीजें भर रहा था, तो मैं पास चली गई। "मुझे बता दीजिए, मैं रख देती हूं।" मैंने कहा।

"हां···अच्छा।" कहकर वह सूटकेस के पास से हट गया।

"कैसे रखना है, बता दीजिए।"

"कैसे भी रख दो। एक बार कुछ निकालूंगा, तो सब कुछ फिर उलझ

जाएगा।"

"मैंने सुबह कुछ बात कही थी···" मेरी आवाज़ सहसा बैठ गई।

"क्या बात ?"

"रुकने की बात···।"

"हां, रुक तो जाता, मगर···"

वीरे नींबू उछालता हुआ आ गया। "आप कह रहे थे जी घबरा रहा है," वह बोला, "यह नींबू ले लीजिए। रास्ते में काम आएगा। एक कागज़ में नमक-मिर्च भी आपको दे देता हूं। इस लड़की के हाथ का खाना खाकर आदमी की तबीयत वैसे ही खराब हो जाती है!"

मैं चुपचाप चीज़ें सूटकेस में भरती रही। वह बीरे के साथ डैडी के कमरे में चला गया।

उसने चलने की बात कही, तो मुझे लगा जैसे कपड़े उतारकर किसीने मुझे ठण्डे पानी में धकेल दिया हो। डैडी सिगार का टुकड़ा प्याली में बुझा रहे थे। वह डैडी के पास चारपाई पर बैठा था। ममा, वीरे और मैं सामने कुर्सियों पर थे। किन्नी कुछ देर रोकर डैडी की चारपाई पर ही सो गई थी। सोने से पहले चिल्ला रही थी, "हम फिर शोभा जिज्जी की शादी में जाएंगे! हमें वहां से जल्दी क्यों ले आई थीं ? वहां हम पप्पू के साथ खेलते थे। यहां सब लोग बातें करते हैं, हम किसके साथ खेलें ?"

सोई हुई किन्नी प्यारी लग रही थी। मैं सोचने लगी—जब मैं उतनी बड़ी थी, तब मैं कैसी लगती थी ?

वह चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। उठते हुए उसने किन्नी के बालों को सहला दिया। फिर एक बार भरी-भरी नजर से मुझे देख लिया। मुझे लगा मैं नहीं, मेरे अन्दर कोई और चीज़ है जो सिहर गई है।

तांगा खड़ा था। वीरे पहले से ले आया था। हम सब निकलकर अहाते में आ गए। वीरे ने साइकिल संभाल ली।

"इण्टरव्यू का पता देना।" वह तांगे की पिछली सीट पर बैठ गया, तो ममा ने कहा।

उसने सिर हिलाया और हाथ जोड़ दिए।

मैं हाथ नहीं जोड़ सकी। चुपचाप उसे देखती रही। तांगा मोड़ पर पहुंचा

तो लगा कि उसने फिर एक वार उसी नज़र से मुझे देखा है।

ममा आदत से मजबूर अपने आंसू पोंछ रही थीं। डैडी अन्दर चले गए थे। मैं कमरे में पहुंची, तो लगा जैसे अब तक घर के अन्दर थी—अब घर से वाहर चली आई हूं।

रात को ममा फिर मेरे पास आ लेटीं। मुझे उन्होंने वांहों में ले लिया। मैं सोच रही थी कि उसे गाड़ी में सोने की जगह मिली होगी या नहीं, और मिली होगी, तो वह सो गया होगा या नहीं ? न जाने क्यों, मुझे लग रहा था कि उसे नींद कभी नहीं आती। शरीर नींद से पथरा जाता है, तब भी उसकी आंखें खुली रहती हैं और अंधेरे की परतों में कुछ खोजती रहती हैं···।

ममा मुझे प्यार कर रही थीं। पर उनकी आंखें भीगी थीं। "ममी, रो क्यों रही हो ?" मैंने बड़ों की तरह पुचकारा। "तुम्हें खुश होना चाहिए कि एक्सीडेंट उतना बुरा नहीं हुआ। दुनिया में एक औरत ऐसी निकल आई तो···"

ममा का रोना और बढ़ गया। मुझे भ्रम हुआ कि शायद रो मैं रही हूं और चुप ममा करा रही हैं। मैंने अपने और उनके शरीर को एक वार छूकर देख लिया।

"नीरू···" ममा कह रही थीं, "तू मेरी तरह मत होना···तेरी ममा··· तेरी ममा···!"

मैंने उन्हें हिलाया। लगा जैसे उन्हें फिट पड़ा हो। "ऐसे क्यों कह रही हो, ममी ?" मैंने कहा, "तुम्हारे जैसे दुनिया में कितने लोग हैं ? मैं अगर तुम्हारे जैसी हो सकूं, तो···"

ममा ने मेरे मुंह पर हाथ रख दिया, "न नीरू···" वे बोलीं, "और जैसी भी होना···अपनी ममा जैसी कभी न होना।"

मैं ममा के सिर पर थपकियां देने लगी। जब उनकी आंख लगी, उनका सिर मेरी वांह पर था। कम्बल तीन-चौथाई उनपर था, इसलिए मुझे ठण्ड लग रही थी। वांह भी सो गई थी। पर मैं बिना हिले-डुले उसी तरह पड़ी रही। पहली वार मुझे लगा कि अंधेरे की कुछ अपनी आवाज़ें भी होती हैं। गहरी रात की खामोशी वेजान खामोशी नहीं होती। अपनी सोई हुई हा···

मैं इस तरह देखती रही जैसे वह मेरे शरीर का हिस्सा न होकर एक अलग प्राणी हो। मन में न जाने क्या-क्या सोचती रही। ममा की आंख में एक आंसू अब भी अटका हुआ था। मैंने दुपट्टे से उसे पोंछ दिया—बहुत हल्के-से, जिससे ममा की आंख न खुल जाए, और उनके सिर पर थपकियां देती रही।…

जंगला

एक हाथ से पम्प चलाकर दूसरे से वदन को मलता हुआ वनवारी भगत धीरे-धीरे गुनगुनाता है, "जागिए, ब्रजराज कुअर···कमल-कुसुम फू-ऊऽऽले ऽ!"

फूलकौर तवे पर झुककर कच्ची रोटी को पोने से दबाती हुई आंखें मिचकाती है। जैसे कि 'फू-ऊऽऽले ऽ' की लम्बी तान सुनकर ही रोटी को फूल जाना हो। रोटी नहीं फूलती, तो वह शिकायत की नजर से वनवारी भगत की तरफ देख लेती है। शरीर की रेखाएं साफ नजर नहीं आतीं। नजर आता है सांवले शरीर पर गमछे का लाल रंग··ठीक लाल भी नहीं···और पम्प का हिलता हत्था, बहता पानी! दूसरी बार तवे पर झुकने तक रोटी आधी जल जाती है। उसे जल्दी से उतारकर दूसरी रोटी तवे पर डालती हुई वह कहती है, "नहाए जाओ चाहे और घण्टा भर! मुझे क्या है?"

भगत 'भृंग लता भूऊऽऽले' की लय के साथ जल्दी-जल्दी पम्प चलाने लगता है। "कौन भंडेरिया कहता है तुझे कुछ है? कभी होता ही नहीं!"

खट्-खट्-खट्!·· वेलन तीन-चार वार चकले से टकराता है। चूल्हे से फूट-कर एक चिनगारी फूलकौर के माथे तक उड़ आती है। वेलन रखकर वह··· भर निढाल हो रहती है। "और कहो, और कहो। कभी कुछ होता ही नहीं! माथे की जगह कपड़े पर आ पड़ती, तो अभी हो जाता!"

भगत पम्प के नीचे से उठ खड़ा होता है। "···बोलत बन··· रांभति गो खरिकन में बछरा हित धा-आऽऽई।···"

दो-तीन चिनगारियां और उड़ आती हैं। फूलकौर

लिए बांह माथे के आगे कर लेती है। "लगाए जाओ तुम अपनी धौंकनी दूसरे की चाहे जान चली जाए।"

भगत आधा बदन हाथ से निचोड़ लेता है। बाकी आधे के लिए फूलकौ की तरफ पीठ करके गमछा उतार लेता है। "किसकी जान चली जाए? तेरी आज तक न गई!"

"हां, मेरी ही नहीं गई? तुम तो प्रेत होकर आए हो!"

"प्रेत होकर यहां आता?" भगत हंसता है। "इस घर में? तेरे सा रहने?"

"नहीं, तुम तो जाते उसके घर···वह जो थी रांड तुम्हारी···अच्छा हुअ मर गई!"

भगत की हंसी गले में ही रह जाती है। "मरों के सिर तोहमत लगाती है? देखना, एक दिन तेरी ज़बान को लकवा मार जाएगा!"

"मेरी ज़बान को? उसकी नहीं जिसने वे सब करम किए हैं?"

भगत की त्योरियां चढ़ जाती हैं। "किस भंडेरिये ने करम किए हैं? क्या करम किए हैं?"

"अपने से पूछो, मुझसे क्यों पूछते हो?"

भगत गमछे को जल्दी-जल्दी निचोड़कर कमर से लपेट लेता है। फिर लोटा-बाल्टी उठाकर जंगले के उस तरफ को चल देता है। "एक औरत के सिवाय दूसरी का हाथ तक नहीं छुआ ज़िन्दगी-भर! इसकी बीमारियां ढो-ढोकर उम्र गला दी, पर इसकी तसल्ली नहीं हुई!···तब तक नहीं होने की जब तक इसे आंख के सामने जीता-जागता, चलता-फिरता नज़र आता हूं। अब अकेला ही तो बच रहा हूं इस घर में···इसकी नज़र के सामने।"

फूलकौर गमछे के लाल रंग को दूर जाते देखती है, फिर चिमटे से पकड़कर तवा एकाएक नीचे उतार लेती है। तवा ज़मीन तक जाने से पहले चिमटे से निकल जाता है। ऊपर पड़ी रोटी फिसलकर नीचे आ गिरती है। "बोलो, बोलो!" वह चिल्लाकर कहती है, "और काली ज़बान बोलो!"

भगत लोटा-बाल्टी जंगले के उस तरफ की दीवार के पास रखकर लौट आता है। "तू और ज़ोर से चिल्ला, जिससे आस-पास के दस घर सुन लें!"

"सुन लें जिन्हें सुनना हो!" फूलकौर की आवाज़ हल्की नहीं पड़ती।

रम नहीं आती तुम्हें अपने लड़के की जान से दुश्मनी करते ?"

"अब यह बात कहां से आ गई ? उस भरनचोर का किसीने नाम भी या है ?"

"तुम क्यों नाम लोगे उसका ?" फूलकौर ज़मीन पर गिरी रोटी को आंखों पास लाकर उसकी धूल झाड़ने लगती है। "तुम्हारे लिए तो इस घर में म्हारे सिवाय कोई बचा ही नहीं है।"

"यह कहा है मैंने ? अपनी इसी अक्ल से तो तूने घर का सत्यानास किया है। यह अक्ल न होती तेरी, तो वह भरनचोर, माखनचोर, यहीं घर में होता आज भी। छोड़कर चला न जाता !"

"बके जाओ गाली !" फूलकौर तवा फिर चढ़ा देती है। "गाली बकने के सिवा तुम्हें कुछ आता भी है ?"

"गाली बक रहा हूं मैं ?"

"नहीं, गाली कहां बक रहे हो ? यह तो तुम हरि-सिमरन कर रहे हो !"

पम्प का पानी जंगले के आस-पास फर्श को दिन-भर गीला रखता है। दालान के उस हिस्से को पार करते फूलकौर को डर लगता है। कितनी ही बार पैर फिसलने से गिर जाती है। जंगले के उस तरफ कुछ गिनी हुई ईंटें हैं जिन तक पानी के छींटे नहीं पहुंचते। पर वही ईंटें सबसे ज़्यादा चिकनी हैं। धोखा उन्हीं पर से गुज़रते हुए होता है। बहुत जमा-जमाकर पैर रखती है, फिर भी ठीक से अपने को संभाला नहीं जाता। दस ईंटों का वह सफर हमेशा जान-लेवा लगता है। सही-सलामत उसे पार करके नये सिरे से ज़िन्दगी मिलती है। यूं जंगले की सलाखों पर पैर रखकर भी जाया जा सकता है, पर वह उससे ज़्यादा खतरनाक लगता है।

आगे के कमरे में जाने से पहले ड्योढ़ी में कपड़ों का ढेर पड़ा रहता है, धुले-अनधुले सभी तरह के कपड़ों को हाथ लगाने पर कोई न कोई टिड्डी या मकड़ी बांह पर चढ़ आती है, या सामने से उछलकर निकल जाती है। 'हाय' कहकर फूलकौर कुछ देर के लिए बदहवास हो रहती है। छाती तेज़ी से धड़कने लगती है। जो कपड़ा हाथ में हो, उसे हाथ में ही लिए बैठी रहती है, देखती रहती है। अपने से बड़बड़ाती है...

कमरे में कई रंगों की धूप आती है, रंगीन शीशों से छनकर। रोशनी के उन रंगीन टुकड़ों के सरकने से वक्त का पता चलता है। नीचे बाजार से गौओं की घण्टियों की आवाज़ सुनाई देती है, तो वह सिर उठाकर कहती है, 'चार बज गए।' इधर-उधर देखती है, जैसे चार बजने का कुछ अर्थ हो···जैसे उससे किसी चीज़ में फर्क पड़ सकता हो। रोशनी के रंग जब फर्श से गायब हो जाते हैं, तो मन में फिर हौल उठने लगता है···कि दालान पार करके फिर चौके में जाना होगा···टोकरी में ढूंढ़कर कोयले निकालने होंगे···कनस्तर में झांककर आटे की थाह लेनी होगी। ड्योढ़ी में आकर कुछ देर मन को तैयार करती रहती है। उसांस के साथ कहती है, 'अब तो रात उतर आई।'

जीने पर पैरों की आहट से वह चौंक जाती है। "कौन है?"

कुछ देर गौर से उस तरफ देखती रहती है। कुछ कदम उस तरफ चली भी जाती है। आहट बहुत करीब आकर एक शक्ल में बदलने लगती है, तो वह फिर एक बार पूछ लेती है, "कौन है?"

"मैं हूं," कहता हुआ भगत दालान में आ जाता है। फूलकौर शिकायत की नजर से उसे देखती है। जैसे भगत ने जान-बूझकर उसे झुठला दिया हो।

"हो आए?" वह चिढ़कर पूछती है।

"कहां?"

"जहां भी गए थे?"

"गया था अपना सिर मुंड़ाने!"

"अपना या जिसका भी। गए तो थे ही।"

"हां, गया तो था ही। अच्छा होता गया ही रहता। लौटकर न आता।"

फूलकौर को सांस ठीक से नहीं आती। कुछ कहना चाहती है, पर कह नहीं पाती। भगत पास से निकलकर पीछे के कमरे में चला जाता है। कुछ देर गुनगुनाता रहता है, "किलकत काऽन्ह घुटुरवनि आऽऽवत···मनिमय कनऽक ननद कैऽ आंऽऽगन, मुख-प्रतिविम्ब पकरिवेऽधाऽऽवत···" धीरे-धीरे आवाज़ खुश्क हो जाती है। एक कसैला स्वाद मुंह में रह जाता है। वह बाहर आकर मोढ़े पर बैठ जाता है। फूलकौर उसकी तरफ नहीं देखती, वह खुद ही कहता है, "वह आज मिला था···"

फूलकौर चौंक जाती है। "कौन, बिशना···?"

''वह नहीं, उसका वह दोस्त···कढ़ी-चोर राधेश्याम !''

फूलकौर का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। ''क्या कहता था ?''

''कुछ नहीं। कहता था···कि वह किसी दिन आएगा···सामान लेने।''

''कौन आएगा ? राधेश्याम ?''

''नहीं। वह खुद आएगा। बिशना।''

चूल्हे की लपट से दीवार पर साये हिलते हैं। कुछ साफ नज़र नहीं ता। फूलकौर आपस में उलझते सायों की तरफ देखती है। ''आए,'' वह हती है। ''आकर ले जाए जो कुछ ले जाना हो। बाकी सब चीज़ों की उसे ज़रूरत है। सिर्फ मां-बाप की ही ज़रूरत नहीं है।''

भगत मुंह के कसैलेपन को अन्दर निगल लेता है। ''देखो, इस बार वह आए, तो उससे लड़ना नहीं।''

''फिर लगे तुम मुझसे कहने ?'' फूलकौर आवाज़ को सांस के आखिरी छोर तक खींच ले जाती है। ''पहले मैं उससे लड़ती थी ?''

''मैंने इस बार के लिए कहा है,'' भगत अपने उबाल को किसी तरह रोकता है। ''पहले की बात नहीं की।''

''पहले की बात नहीं की ! बात करोगे भी और कहोगे भी कि नहीं की।''

कुछ देर आगे बात नहीं होती। भगत मोढ़े से एक तीली तोड़कर उससे दांत कुरेदने लगता है। फूलकौर बार-बार तवे पर झुकती और पीछे हटती है। फिर पूछ लेती है, ''क्या कहता था वह···कब आएगा ?''

''उसे भी ठीक मालूम नहीं था। कहता था, ऐसे ही बात-बात में उसके मुंह से सुना था। हो सकता है कल-परसों ही किसी वक्त चला आए।''

फूलकौर का हाथ आटे में ठीक से नहीं पड़ता। आटा ले लेने पर उसका पेड़ा नहीं बन पाता। पेड़े को चकले पर रखकर बेलन नहीं चलता। ''क्या पता उसने कहा भी था या राधे अपने मन से ही कह रहा था।'' वह कहती है।

''राधे अपने मन से क्यों कहेगा ? हमसे झूठ बोलने की उसे क्या ज़रूरत है ?''

फूलकौर बेली हुई रोटी को गोल करके फिर पेड़ा बना लेती है। ''मुझे

एतबार नहीं आता कि वह चुड़ैल उसे आने देगी।"

"क्यों नहीं आने देगी ?...लड़का अपने मां-बाप के घर आना चाहे, तो वह उसे कैसे रोक लेगी ?"

फूलकौर वेली हुई रोटी हाथ पर लिए पल-भर कुछ सोचती रहती है। फिर उसे तवे पर डालती हुई कहती है, "उस दिन आई थी, तो मैंने उसपर सौंह जो डाली थी ! कहा था कि बाप की बेटी है, तो इसके बाद न कभी खुद इस घर में कदम रखे, न उसे रखने दे !"

भगत दांत का मैल तीली से फर्श पर रगड़ देता है। "तो किसीके सिर क्यों लगती है, अपने से कह !"

"और तुमसे न कहूं जो खाना-पीना तक छोड़ बैठे थे ? हाय-हाय करते थे कि दूसरे की ब्याहकर छोड़ी हुई औरत घर में वहू बनकर कैसे आ सकती है !"

भगत कुछ देर तीली को देखता रहता है, फिर उसे कई टुकड़ों में तोड़ देता है। "तू मुझे बात करने देती, तो मैं जैसे-तैसे लड़के को समझा लेता।"

"तुम समझा लेते...तुम !" फूलकौर इतना उसकी तरफ झुक आती है कि भगत को उसे संभालकर पीछे हटा देना पड़ता है। "दिखता नहीं, आगे चूल्हा है ?"

फूलकौर धोती के पल्लू को हाथ से दबा लेती है। देखती है कि कहीं जल तो नहीं गया। कहती है, "नहीं दिखता तभी तो रात-दिन चूल्हे के पास बैठना पड़ता है।"

"तुझे...!" भगत बांह फेरकर मुंह साफ करता है।

"क्या कह रहे थे ?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ न कहना हो तो चुप ही रहा करो न !" फूलकौर और चिढ़ उठती है। "हमेशा इसी तरह आधी बात कहकर दूसरे का जी जलाते हो।"

भगत के गले से अजीब-सी आवाज़ पैदा होती है। खुले होंठ कुछ देर ढीले हो रहते हैं। फिर वह थूक निगलकर अपने को सहेज लेता है।

"रोटी अभी खाओगे या ठहरकर ?" फूलकौर कुछ देर बाद पूछती है।

"अभी दे दो...या ठहरकर दे देना।"

"तुम एक बात नहीं कह सकते ? या कहो अभी दे दो, या कहो ठहरकर दो।"

भगत कुछ देर घूरकर देखता रहता है, जैसे सहने की हद को उसने पार कर लिया हो। "तुझे एक ही बात सुननी है," वह कहता है, "तो वह यह है कि न मैं अभी खाऊंगा, न ठहरकर खाऊंगा ! तेरे हाथ की रोटी खाने से ज़हर खा लेना ज्यादा अच्छा है।"

...सीढ़ियों के हर खटके से फूलकौर चौंकती रहती है, "कौन है ?" भगत उसे सीढ़ियों की तरफ जाते देखता है, तो गुस्से से रोककर खुद आगे चला जाता है। "कोई नहीं है," वह सीढ़ियों में देखकर कहता है। "जा रही थी वहां मरने ! अपना हाथ तक तो नज़र आता नहीं...आनेवाले का सिर-मुंह इसे नजर आ जाएगा !"

फूलकौर बिना देखे लौट आती है...पर मन में सन्देह बना रहता है। उसे लगता है जैसे भगत के देखने की वजह से ही सीढ़ियां हर बार खाली हो जाती हों। वह इन्तज़ार करती है कि कब भगत घर से जाए और वह कुछ देर अकेली रहे। अकेले में ज़रा-सा भी खटका सुनाई देता है, तो वह जाकर सीढ़ियों में झुक जाती है। "बिशने...!"

कई बार देख चुकने के बाद सचमुच कोई सीढ़ियां चढ़ता नज़र आता है। बहुत पास आ जाने पर वह फिर एक बार धीरे से कहती है, "कौन है ? बिशना !"

"हां, बिशना !" भगत कुढ़ता हुआ उसे सहारे से अन्दर ले आता है। "तेरी आवाज़ सुनने के लिए ही रुका बैठा है वह ! जब तक एक बार तू लुढ़क नहीं जाएगी, तब तक वह ठीक से सुन नहीं पाएगा।..."

फूलकौर अन्दर आकर भगत की तरफ नहीं देखती। उसे लगता है कि उसीकी वजह से सब गड़बड़ हो गया है। अगर वह इस वक्त न आया होता...!

आधी रात को हांदी से उठकर पम्प पर हाथ धोने जाती फूलकौर सहमकर खड़ी रहती है। गीली ईंटों से भी ज्यादा डर लगता है जंगले से जो पम्प के आगे दालान के एक-तिहाई हिस्से को घेरे है। लकड़ी के चौखटों में जड़ी बड़ी-

बड़ी सलाखें !···जिन पर से वह दिन में भी नहीं गुजरती। लगता है नीचे से दीवानखाने का अंधेरा पैरों को बांध लेगा···एक कदम रखने के बाद अगला कदम रख पाना सम्भव ही नहीं होगा। वह इस घर में आई थी, तब से अब तक दीवानखाना कभी खोला नहीं गया। वहां अन्दर क्या है, क्या नहीं, यह कोई भी नहीं जानता। यह भी नहीं कि कब कितनी पुश्तें पहले वह कमरा दीवानखाने के तौर पर इस्तेमाल होता था। कब से वह दीवानखाना भोहरा कहलाने लगा, इसका भी कुछ पता नहीं था···बनवारी भगत को भी नहीं। उसके होश से पहले एक बार दरवाज़ा खुला था—जिसके दूसरे-तीसरे दिन ही कहा जाता था कि उसके बड़े भाई की मौत हो गई थी।

फूलकौर हौदी से उठकर देर तक जंगले के इस तरफ खड़ी रहती है। सलाखों की ठण्डक और चुभन उसे दूर से ही महसूस होती है···लगता है कि रात को दीवानखाने का अंधेरा अपनी खास गन्ध के साथ जंगले से ऊपर उठा आता है। उस वक्त हल्की से हल्की आवाज़ भी उसे उस अंधेरे की ही आवाज़ जान पड़ती है—जैसे कि अंधेरा हर आनेवाले की आहट लेता हो···और फिर चुपके से उसकी खबर दीवानखाने में पहुंचा देता हो।

किसी भी तरह हौदी से पम्प तक जाने का हौसला नहीं पड़ता। बिना हाथ धोए चुपचाप कमरे में जाकर सोया भी नहीं जाता। वह भगत के सिरहाने बैठकर धीरे-धीरे कहती है, "सुनो···मैं कहती हूं ज़रा-सी देर के लिए उठ जाओ।" भगत के शरीर को वह हाथ से नहीं छूती। छूने से शरीर गन्दा हो जाता है। भगत को उतनी रात में कपड़े बदलकर नहाना पड़ता है।

जब तक भगत की आंख नहीं खुलती, वह आवाज़ें देती रहती है। तब अचानक भगत सिर उठाकर कहता है, "क्या हुआ है ?···कौन आया है ?"

"आया कोई नहीं है," वह कहती है। "मैं तुम्हें जगा रही हूं।"

भगत हड़बड़ाकर उठ बैठता है। पेट तक आई धोती को संभालकर घुटनों से नीचे कर लेता है। होंठों को हाथ से साफ करता हुआ कहता है, "कढ़ी-चोर !"

"अब कौन है जिसे गाली दे रहे हो ?" फूलकौर हल्के-से कहती है—कुछ खुशामद के साथ—जैसे कि गाली देने वाले की जगह कसूरवार गाली खाने वाला हो।

भगत जवाब नहीं देता। जम्हाई के साथ चुटकी बजाता उठ खड़ा होता है। "श्री हरि···श्रीनाथ हरि···श्री कृष्ण हरि···!"

पम्प तक होकर वापस आते ही भगत फिर चादर ओढ़ लेता है। फूलकौर लेटने से पहले दालान का दरवाज़ा बन्द कर देती है।

भगत दूसरी तरफ करवट बदलने लगता है, तो वह कहती है, "सुनो···अब उसे गाली मत दिया करो।"

"तू मुझे सोने देगी या नहीं ?" भगत झुंझलाता है, "किसे गाली दे रहा हूं मैं ?"

"अभी उठते ही तुमने उसे गाली नहीं दी थी ?" अब फूलकौर के स्वर में खुशामद का भाव नहीं रहता।

"किसे ?"

"उसे ही। विशने को।"

"वह यहां सामने बैठा था जो मैं उसे गाली दे रहा था ?"

"इसका मतलब है कि वह सामने आएगा, तो तुम गाली से बाज नहीं आओगे ? मैं पहले नहीं कहती थी कि लड़का बड़ा हो गया है, तुम्हें उससे ज़बान संभालकर बात करनी चाहिए ?"

भगत मुंह का झाग गले में उतार लेता है। "उसे पता है गाली मेरे मुंह पर चढ़ी हुई है। मैं जान-बूझकर नहीं देता।"

"तो ठीक है। तुम आज तक अपनी कहानी से बाज आए हो, जो आज ही आओगे ? मैं खामख्वाह अपना सिर खपा रही हूं।"

भगत कुछ देर चुप रहकर आंखें झपकता है। "तू ऐसे बात कर रही है जैसे आज वह इसी वक्त चला आ रहा है।"

फूलकौर का सिर थोड़ा पास को सरक आता है। कटती-सी सांस के साथ वह कहती है, "कम से कम मुंह से तो अच्छी बात बोला करो।"

"अब मैंने क्या कह दिया है ?" एक तेज सांस फूलकौर के गाल से जा टकराती है।

"जिसे आना हो, वह भी ऐसी बात मुंह पर लाने से नहीं आता।"

भगत की सांस कुछ धीमी पड़ जाती है। वह कहता है, "उसके आने पर मैं कुछ बात नहीं करूंगा। चुप रहूंगा, तो गाली भी मुंह से नहीं निकलेगी।"

फूलकौर का सिर सरककर वापस अपने तकिये पर चला जाता है। "हां, तुम कुछ भी बात मत करना उससे। जिससे वह आए भी, तो उसी वक्त लौट भी जाए। मुंह तुम बन्द रख सकते हो, पर गाली देने से बाज़ नहीं आ सकते!"

"मैंने यह कहा है?"

"नहीं, यह नहीं, और कुछ कहा है। तुम हमेशा अपने मुंह से ठीक बात कहते हो। सुननेवाला गलत सुन लेता है।"

भगत को नींद नहीं आती। हर करवट शरीर का बोझ बांह के किसी न किसी हिस्से पर भारी पड़ता है, हड्डियां चुभती हैं। एक ठण्डक-सी महसूस होती है। बाहर से नहीं, अन्दर से। लगता है कि वही ठण्डक है जो धीरे-धीरे बाहर फैलती जा रही है।

सिर के नीचे हाथ रखे वह अंधेरे को देखता रहता है···कभी-कभी अंधेरे में अपने को देखने की कोशिश करता है···जैसे कि लेटा हुआ आदमी कोई और हो, देखनेवाला कोई और। पर ज़्यादा देर अपने को इस तरह नहीं देखा जाता।

दो सांसों की आवाज़ लगातार सुनाई देती है—एक अपनी, दूसरी फूलकौर की। एक सांस नीचे जाती है, तो दूसरी ऊपर आती है···फिर पहली ऊपर उठती है, और दूसरी नीचे चली जाती है। कभी-कभी दोनों सांसें एक-दूसरी को काटती लगती हैं। वह पल-भर सांस रोके रहता है जिससे दोनों की लय फिर ठीक हो जाए·· पर लय कुछ देर के लिए ठीक होकर फिर उसी तरह बिगड़ने लगती है।

कोई चीज़ पैर पर से गुजर जाती है। 'हा' की आवाज़ के साथ वह अचानक उठ बैठता है। पैर को छूकर इधर-उधर देखता है। फिर उठकर खड़ा हो जाता है। वह दीवार, जिस पर बिजली का बटन है, दो गज़ के फासले पर है। एक-एक कदम वह उस दीवार की तरफ बढ़ता है। हर बार जमीन को छूने से पहले एक सरसराहट जिस्म में भर जाती है···लगता है कि पैर किसी लिजलिजी चीज़ से टकराने जा रहा है। साथ ही एक डर भी महसूस होता है कि कहीं अगर वह चीज़···। ठोस-ठण्डा फर्श पैर से छू जाता है, तो हल्का-सा आभास सुख का भी होता है, सुरक्षित होने के सुख का। पर तब तक अगला कदम डर की हद में पहुंच चुका होता है।···

टटोलता हुआ हाथ बटन को छू लेता है, तो सुख की कई लहरें एकसाथ शरीर में दौड़ जाती हैं। पचीस वाट के बल्ब की रोशनी कमरे की हर चीज को नये सिरे से जिन्दा कर देती है।

भगत सारे फर्श पर नजर दौड़ाता है। सन्दूकों के ऊपर-नीचे देखता है। बन्द दरवाजे में हल्की-सी दरार देखकर उसे पूरा खोल देता है—जैसे कि देखने की जिम्मेदारी बाहर देखे बिना पूरी न होती हो। "हट, हट, हट!" कहकर दहलीज लांघने से पहले वह कुछ देर रुका रहता है। ड्योढ़ी में बिखरे मैले कपड़ों और पुराने बिस्तरों से आहट का इन्तजार करता है। अफसोस होता है कि सब चीजें उस तरह क्यों पड़ी हैं! पर उन्हें उठाने की हिम्मत नहीं पड़ती। एक-एक चीज को आंखों से टटोलता है। छूता नहीं। लगता है छूने से वह लिज-लिजी चीज आंखें और पंजे उठाए अचानक सामने नजर आ जाएगी।

लौटने से पहले दो-एक बार वह पैर से फर्श में धमक पैदा करता है। कहीं कोई हरकत नहीं होती। किसी तरफ से आहट सुनाई नहीं देती। पर दहलीज लांघकर वापस कमरे में कदम रखते ही बिजली टूटती है···वही लिजलिजी चीज तेजी से पैर के ऊपर से गुजर जाती है···और ड्योढ़ी पार करके जंगला पार करने की कोशिश में धप्-से नीचे जा गिरती है। एक हल्की-सी आवाज··· च्यों-च्यों-च्यों···और बस।

भगत कांपकर सुन्न हो रहता है। लगता है जैसे उस तेज दौड़ती चीज के साथ उसके अन्दर की कोई चीज भी धप्-से दीवानखाने में जा गिरी हो···और अब वहां से उठकर वापस आने की कोशिश में वहीं डूबती जा रही हो। दरवाजा बन्द करके लम्बे कदम रखता वह बिस्तर पर लौट आता है।

अब उसे बत्ती बुझाने का ध्यान आता है। वापस दीवार तक जाने, बत्ती बुझाने और लौटकर बिस्तर तक आने की बात सोचकर घुटने कांपने लगते हैं।

उसे बिशने का खयाल आता है। अभी तीन साल पहले की बात थी, जब बिशने ने दीवानखाने से निकले एक सांप को निचली ड्योढ़ी में लाठी से मार दिया था। इस बात पर बिशने से कितनी खटपट हुई थी! बड़ों से सुन रखा था कि दीवानखाने में खानदान का पुराना धन गड़ा है और उनके बाबा-पड़दादा सांप बनकर उसकी रखवाली करते हैं। दीवानखाने को खोला इसीलिए नहीं जाता था कि पुरखे उससे नाराज न हो जाएं। और यह लड़का था कि इसने लाठी

के रास्ते हवा लेने के लिए बाहर आए एक पुरखे को जान से ही मार डाला था !

"सुन !" वह फूलकौर को धीरे-से हिलाता है। दो जागती आंखों के सामने ही वह बत्ती बुझाना चाहता है।

फूलकौर आंखें खोलती है—इस तरह जैसे कि जगाए जाने की राह ही देख रही हो। उसके होंठों पर हल्की मुसकराहट आती है—सपने से बाहर चली आई-सी। "क्या बात है ?" वह पूछती है।

"कुछ नहीं। ऐसे ही आवाज़ दी थी।"

फूलकौर के होंठ उसी तरह फैले रहते हैं—सिर्फ मुसकराहट की रेखा परेशानी की रेखा में बदल जाती है। "तबीयत ठीक है ?" वह पूछती है।

"हां, ठीक है।"

"पानी-आनी चाहिए ?"

"नहीं।"

"फिर···?"

"एक बात कहनी थी।···"

फूलकौर बैठ जाती है। "मुझे पता है जो बात कहनी थी। बत्ती बुझानी होगी।"

"इतनी ही तो समझ है तेरी !" भगत खीज उठता है। "बत्ती बुझाने के लिए मैं तुझे जगाऊंगा !···मैं बात करना चाहता था, उसके बारे में···।"

"पहले उठकर बत्ती बुझा दो···फिर जो चाहो बात करते रहना।"

भगत उठता है—जैसे ताव में—और बत्ती बुझाकर लौट आता है। अंधेरे में कुछ देर दोनों राह देखते हैं—एक-दूसरे की आवाज़ सुनने की। फिर फूलकौर धीरे-से कहती है, "अब बोलते क्यों नहीं ?"

भगत चुप रहता है। सोचता है कि अगली बार भी जवाब नहीं देगा, सिर्फ इतना कह देगा, "कुछ नहीं।"

मगर फूलकौर दोहराकर नहीं पूछती। कहती है, "अच्छा, मत बताओ।" भगत के मुंह तक आया हुआ 'कुछ नहीं' तब तक बाहर फिसल आता है। वह उसे समेटता हुआ कहता है, "कुछ खास बात नहीं···इतना ही कहना चाहता था कि···अगर दो चूल्हे अलग-अलग कर लिए जाएं···वे लोग जो कुछ खाना-पकाना चाहें, अलग से खा-पका लें···"

फूलकौर की आंखें अंधेरे में उसके चेहरे को टटोलती हैं। "क्या कहा तुमने ?"

"यही कि···।"

"तुम कह रहे हो यह बात ?"

खटमल जैसी कोई चीज़ भगत को अपनी जांघ पर रेंगती महसूस होती है। उसे वह अंगूठे से मसल देता है। "मैं तेरी वजह से कह रहा था···क्योंकि बाद में तू सारी बात मेरे सिर पर डाल देगी।"

"बिशना आए, तो कह दूं मैं उससे ?"

"हां···कह देना।"

"तो इसका मतलब है कि···"

भगत कुछ न कहकर आगे सुनने की राह देखता है।

"···कि वह भी बिशने के साथ यहीं रहेगी आकर···?"

भगत धोती उठाकर जांघ को अच्छी तरह झाड़ लेता है। "अब मेरी कोई ज़िम्मेदारी नहीं। मुझे पता था, तू उन्हें घर में रखने को राज़ी नहीं है।"

"यह कहा है मैंने ?"

"खुद चाहती नहीं है, और तोहमत मेरे सिर लगाती है।"

"मैं नहीं चाहती ?···मेरी तरफ से वह किसी को भी घर में ले आए। मैं यहां न पड़ रहूंगी, पीछे के कमरे में पड़ रहूंगी। फर्क जो पड़ता है वह तो तुम्हारी भगताई को ही पड़ता है।"

"मुझे क्या फर्क पड़ता है ?" भगत उतावला होकर कहता है। "ठाकुरजी की सेवा के लिए मैं कुएं से किरमिच के डोल में पानी ले आया करूंगा।"

कुछ देर खामोशी रहती है। दोनों की सांसें एक-तार चलती हैं। फिर भगत कहता है, "दरअसल उसे संगत अच्छी नहीं मिली।"

"किसे ?"

"बिशन को, और किसे ?···अब यह राधे ही है···न रखता उन्हें अपने घर में···कह रहा था कटरे में उनके लिए अलग मकान देख रहा है।"

"वह अलग मकान लेकर रहेगा ?"

भगत हुंकारा भरकर खामोश हो रहता है। कुछ देर बाद करवट बदलते हुए कहता है, "कढ़ी-चोर···!"

मन्दी

चेयरिंग क्रास पर पहुंचकर मैंने देखा कि उस वक्त वहां मेरे सिवा एक भी आदमी नहीं है। एक बच्चा, जो अपनी आया के साथ वहां खेल रहा था, अब अब उसके पीछे भागता हुआ ठंडी सड़क पर चला गया था। घाटी में एक जली हुई इमारत का ज़ीना इस तरह शून्य की तरफ झांक रहा था जैसे सारे विश्व को आत्महत्या की प्रेरणा और अपने ऊपर आकर कूद जाने का निमन्त्रण दे रहा हो। आस-पास के विस्तार को देखते हुए उस निस्तब्ध एकान्त में मुझे हार्डी के एक लैंडस्केप की याद हो आई, जिसके कई पृष्ठों के वर्णन के बाद मानवता दृश्य-पट पर प्रवेश करती है···अर्थात् एक छकड़ा धीमी चाल से आता दिखाई देता है। मेरे सामने भी खुली घाटी थी, दूर तक फैली पहाड़ी श्रृंखलाएं थीं, बादल थे, चेयरिंग क्रास का सुनसान मोड़ था···और यहां भी कुछ उसी तरह मानवता ने दृश्य-पट पर प्रवेश किया···अर्थात् एक पचास-पचपन साल का भला आदमी छड़ी टेकता दूर से आता दिखाई दिया। वह इस तरह इधर-उधर नज़र डालता चल रहा था जैसे देख रहा हो जो ढेले-पत्थर कल वहां पड़े थे, वे आज ी अपनी जगह पर हैं या नहीं। जब वह मुझसे कुछ ही फासले पर रह या, तो उसने अपनी आंखें तीन-चौथाई बन्द करके छोटी-छोटी लकीरों जैसी बना ीं और मेरे चेहरे का गौर से मुआइना करता हुआ आगे बढ़ने लगा। मेरे पास ाने तक उसकी नज़र ने जैसे फैसला कर लिया, और उसने रुककर, छड़ी पर ार डाले हुए, पल-भर के वक्फे के बाद पूछा, "यहां नये आए हो?"

"जी हां," मैंने उसकी मुरझाई हुई पुतलियों में अपने चेहरे का साया देखते

हुए ज़रा संकोच के साथ कहा।

"मुझे लग रहा था कि नये ही आए हो," वह बोला, "पुराने लोग तो सब अपने जाने-पहचाने हैं।"

"आप यहीं रहते हैं ?" मैंने पूछा।

"हां, यहीं रहते हैं।" उसने विरक्ति और शिकायत के स्वर में उत्तर दिया। "जहां का अन्न-जल लिखाकर लाए थे, वहीं तो न रहेंगे···अन्न-जल मिले चाहे न मिले !"

उसका स्वर कुछ ऐसा था जैसे मुझसे कोई पुराना गिला हो। मुझे लगा कि या तो वह बेहद निराशावादी है, या उसे पेट का कोई संक्रामक रोग है। उसकी रस्सी की तरह बंधी टाई से यह अनुमान होता था कि वह एक रिटायर्ड सरकारी कर्मचारी है जो अब अपनी कोठी में सेब का बागीचा लगाकर उसकी रखवाली किया करता है।

"आपकी यहां पर अपनी ज़मीन होगी ?" मैंने उत्सुकता न रहते हुए भी पूछ लिया।

"ज़मीन ?" उसके स्वर में और भी निराशा और शिकायत भर आई। "ज़मीन कहां जी ?" और फिर जैसे कुछ खीज और कुछ व्यंग्य के साथ सिर हिलाकर उसने कहा, "ज़मीन !"

मुझे समझ नहीं आ रहा था कि अब मुझे क्या कहना चाहिए। वह उसी तरह छड़ी पर भार दिए मेरी तरफ देख रहा था। कुछ क्षणों का वह खामोश अन्तराल मुझे विचित्र-सा लगा। उस स्थिति से निकलने के लिए मैंने पूछ लिया, "तो आप यहां कोई अपना निज का काम करते हैं ?"

"क्या काम करना है जी ?" उसने जवाब दिया, "घर से खाना काम अगर है, तो वही काम करते हैं। और आजकल काम रह क्या गए हैं ? हर काम का बुरा हाल है !"

मेरा ध्यान पल-भर के लिए जली हुई इमारत के ज़ीने की तरफ चला गया। उसके ऊपर एक बन्दर आ बैठा था और सिर खुजलाता हुआ शायद यह फैसला करना चाह रहा था कि उसे कूद जाना चाहिए या नहीं।

"अकेले आए हो ?" अब उस आदमी ने मुझसे पूछ लिया

"जी हां, अकेला ही आया हूं।" मैंने जवाब दिया।

"आजकल यहां आता ही कौन है ?" वह बोला। "यह तो वियावान जगह है। सैर के लिए अच्छी जगहें हैं शिमला, मसूरी वगैरह। वहां क्यों नहीं चले गए ?"

मुझे फिर से उसकी पुतलियों में अपना साया नज़र आ गया। मगर मन होते हुए भी मैं उससे यह नहीं कह सका कि मुझे पहले पता होता कि वहां आकर मेरी उससे मुलाकात होगी, तो मैं ज़रूर किसी और पहाड़ पर चला जाता !

"खैर, अब तो आ ही गए हो," वह फिर बोला। "कुछ दिन घूम-फिर लो। ठहरने का इन्तज़ाम कर लिया है ?"

"जी हां," मैंने कहा। "कथलक रोड पर एक कोठी ले ली है।"

"सभी कोठियां खाली पड़ी हैं।" वह बोला। हमारे पास भी एक कोठरी थी। अभी कल ही दो रुपये महीने पर चढ़ाई है। दो-तीन महीने लगी रहेगी। फिर दो-चार रुपये पास से डालकर सफेदी करा देंगे। और क्या !" फिर दो-एक क्षण के बाद उसने पूछा, "खाने का क्या इन्तज़ाम किया है ?"

"अभी कुछ नहीं किया।" मैंने कहा। "इस वक्त इसी ख्याल से बाहर आया था कि कोई अच्छा-सा होटल देख लूं, जो ज़्यादा मंहगा भी न हो।"

"नीचे बाज़ार में चले जाओ," वह बोला। "नत्थासिंह का होटल पूछ लेना। सस्ते होटलों में वही अच्छा है। वहीं खा लिया करना। पेट ही भरना है ! और क्या !"

और अपनी नहूसत मेरे अन्दर भरकर वह पहले की तरह छड़ी टेकता हुआ रास्ते पर चल दिया।

नत्थासिंह का होटल बाज़ार में बहुत नीचे जाकर था। जिस समय मैं वहां पहुंचा, बुड्ढा सरदार नत्थासिंह और उसके दोनों बेटे अपनी दुकान के सामने हलवाई की दुकान में बैठे हलवाई के साथ ताश खेल रहे थे। मुझे देखते ही नत्थासिंह ने तपाक से अपने बड़े लड़के से कहा, "उठ बसन्ते, ग्राहक आया है।"

बसन्ते ने तुरन्त हाथ के पत्ते फेंक दिए और बाहर निकल आया।

"क्या चाहिए, साब ?" उसने आकर गद्दी पर बैठते हुए पूछा।

"एक प्याली चाय बना दो।" मैंने कहा।

"अभी लीजिए !" और वह केतली में पानी डालने लगा।

"अंडे-वंडे रखते हो ?" मैंने पूछा।

"रखते तो नहीं, पर आपके लिए अभी मंगवा देता हूं।" वह बोला। "कैसे अंडे लेंगे ? फ्राई या आमलेट ?"

"आमलेट।" मैंने कहा।

"जा हरवंसे, भागकर ऊपरवाले लाला से दो अंडे ले आ।" उसने अपने छोटे भाई को आवाज़ दी।

आवाज़ सुनकर हरवंसे ने भी झट से हाथ के पत्ते फेंक दिए और उठकर बाहर आ गया। बसन्ते से पैसे लेकर वह भागता हुआ बाज़ार की सीढ़ियां चढ़ गया। बसन्ता केतली भट्ठी पर रखकर नीचे से हवा करने लगा।

हलवाई और नत्थासिंह अभी तक अपने-अपने पत्ते हाथ में लिये थे। हलवाई अपने पाजामे का कपड़ा उंगली और अंगूठे के बीच लेकर जांघ खुजलाता हुआ कह रहा था, "अब चढ़ाई शुरू हो रही है, नत्थासिंह !"

"हां, अब गर्मियां आई हैं, तो चढ़ाई शुरू होगी ही।" नत्थासिंह अपनी सफेद दाढ़ी में उंगलियों से कंघी करता हुआ बोला, "चार पैसे कमाने के यही तो दिन हैं।"

"पर नत्थासिंह, अब पहलेवाली बात नहीं है।" हलवाई ने कहा, "पहले दिनों में हज़ार-बारह सौ आदमी इधर को आते थे, हज़ार-बारह सौ उधर को जाते थे, तो लगता था कि हां, लोग बाहर से आए हैं। अब आ भी गए सौ-पचास तो क्या है !"

"सौ-पचास की भी बड़ी बरकत है।" नत्थासिंह धार्मिकता के स्वर में बोला।

"कहते हैं आजकल किसी के पास पैसा ही नहीं रहा !" हलवाई ने जैसे चिन्तन करते हुए कहा, "यह बात मेरी समझ में नहीं आती। दो-चार साल सबके पास पैसा हो जाता है, फिर एकदम सब के सब भूखे-नंगे हो जाते हैं ! जैसे पैसों पर किसीने बांध बांधकर रखा है। जब चाहता है छोड़ देता है, जब चाहता है रोक लेता है !"

"सब करनी करतार की है !" कहता हुआ नत्थासिंह भी पत्ते फेंककर उठ खड़ा हुआ।

"कर्तार की करनी कुछ नहीं है !" हलवाई वेमन से पत्ते रखता हुआ वोला, "जब कर्तार पैदावार उसी तरह करता है, तो लोग क्यों भूखे-नंगे हो जाते हैं ? यह वात मेरी समझ में नहीं आती।"

नत्थासिंह ने दाढ़ी खुजलाते हुए आकाश की ओर देखा, जैसे खीज रहा हो कि कर्तार के अलावा दूसरा कौन है जो लोगों को भूखे-नंगे वना सकता है।

"कर्तार को ही पता है।" पल-भर वाद उसने सिर हिलाकर कहा।

"कर्तार को कुछ पता नहीं है।" हलवाई ने ताश की गड्डी फटी हुई डब्बी में रखते हुए सिर हिलाकर कहा और अपनी गद्दी पर जा वैठा। मैं यह तय नहीं कर सका कि उसने कर्तार को निर्दोष वताने की कोशिश की है, या कर्तार की ज्ञान-शक्ति पर संदेह प्रकट किया है।

कुछ देर वाद मैं चाय पीकर वहां से चलने लगा तो वसन्ते ने कुल छः आने मांगे। उसने हिसाव भी दिया—चार आने के अंडे, एक आने का घी और एक आने की चाय। मैं पैसे देकर वाहर निकला तो नत्थासिंह ने पीछे से आवाज़ दी, "भाई साहव, रात को खाना भी यहीं खाइएगा। आज आपके लिए स्पेशल चीज़ वनाएंगे ! ज़रूर आइएगा।"

उसके स्वर में ऐसा अनुरोध था कि मैं मुसकराए विना नहीं रह सका। सोचा कि उसने छः आने में क्या कमा लिया है जो मुझसे रात को फिर आने का अनुरोध कर रहा है।

शाम को सैर से लौटते हुए मैंने वुक एजेंसी से अखवार खरीदा और वैठकर पढ़ने के लिए एक वड़े-से रेस्तरां में चला गया। अन्दर पहुंचकर देखा कि कुर्सियां, मेज़ और सोफे करीने से सजे हुए हैं, पर न तो हाल में कोई वैरा है, और न ही काउण्टर पर कोई आदमी है। मैं एक सोफे पर वैठकर अखवार पढ़ने लगा। एक कुत्ता, जो उस सोफे से सटकर लेटा था, अव वहां से उठकर सामने के सोफे पर आ वैठा और मेरी तरफ देखकर जीभ लपलपाने लगा। मैंने एक वार हल्के-से मेज को थपथपाया, वैरे को आवाज़ दी, पर कोई इन्सानी सूरत सामने नहीं आई। अलवत्ता, कुत्ता सोफे से मेज़ पर आकर अव और भी पास से मेरी तरफ जीभ लपलपाने लगा। मैं अपने और उसके वीच अखवार का पर्दा करके खवरें पढ़ता रहा।

उस तरह वैठे हुए मुझे पन्द्रह-वीस मिनट वीत गए। आखिर जब मैं वहां

से उठने को हुआ तो बाहर का दरवाज़ा खुला और पाजामा-कमीज़ पहने एक आदमी अन्दर दाखिल हुआ। मुझे देखकर उसने दूर से सलाम किया और पास आकर ज़रा संकोच के साथ कहा, "माफ कीजिएगा, मैं एक बाबू का सामान मोटर के अड्डे तक छोड़ने चला गया था। आपको आए ज़्यादा देर तो नहीं हुई ?"

मैंने उसके ढीले-ढाले जिस्म पर एक गहरी नज़र डाली और उससे पूछ लिया, "तुम यहां अकेले ही काम करते हो ?"

"जी, आजकल अकेला ही हूं।" उसने जवाब दिया। "दिन-भर मैं यहीं रहता हूं, सिर्फ बस के वक्त किसी बाबू का सामान मिल जाए, तो अड्डे तक छोड़ने चला जाता हूं।"

"यहां का कोई मैनेजर नहीं है ?" मैंने पूछा।

"जी, मालिक आप ही मनीजर है।" वह बोला, "वह आजकल अमृतसर में रहता है। यहां का सारा काम मेरे ज़िम्मे है।"

"तुम यहां चाय-वाय कुछ बनाते हो ?"

"चाय, कॉफी—जिस चीज़ का आर्डर दें, वह बन सकती है।"

"अच्छा, ज़रा अपना मेन्यू दिखाना।"

उसके चेहरे के भाव से मैंने अन्दाज़ा लगाया कि वह मेरी बात नहीं समझा। मैंने उसे समझाते हुए कहा, "तुम्हारे पास खाने-पीने की चीज़ों की छपी हुई लिस्ट होगी, वह ले आओ।"

"अभी लाता हूं जी," कहकर वह सामने की दीवार की तरफ़ चला गया और वहां से एक गत्ता उतार लाया। देखने पर मुझे पता चला कि वह उस होटल का लायसेंस है।

"यह तो यहां का लायसेंस है।" मैंने कहा।

"जी, छपी हुई लिस्ट तो यहां पर यही है।" वह असमंजस में पड़ गया।

"अच्छा ठीक है, मेरे लिए चाय ले आओ।" मैंने कहा।

"अच्छा जी !" वह बोला, "मगर साहब," और उसके स्वर में काफी आत्मीयता आ गई, "मैं कहता हूं, खाने का टैम है, खाना ही खाओ। चाय का क्या पीना ! साली अन्दर जाकर नाड़ियों को जलाती है।"

मैं उसकी बात पर मन ही मन मुस्कराया। मुझे सचमुच भूख लग रही

"कर्तार की करनी कुछ नहीं है !" हलवाई वेमन से पत्ते रखता हुआ वोला, "जब कर्तार पैदावार उसी तरह करता है, तो लोग क्यों भूखे-नंगे हो जाते हैं ? यह बात मेरी समझ में नहीं आती।"

नत्थासिंह ने दाढ़ी खुजलाते हुए आकाश की ओर देखा, जैसे खीज रहा हो कि कर्तार के अलावा दूसरा कौन है जो लोगों को भूखे-नंगे वना सकता है।

"कर्तार को ही पता है।" पल-भर वाद उसने सिर हिलाकर कहा।

"कर्तार को कुछ पता नहीं है।" हलवाई ने ताश की गड्डी फटी हुई डव्वी में रखते हुए सिर हिलाकर कहा और अपनी गद्दी पर जा वैठा। मैं यह तय नहीं कर सका कि उसने कर्तार को निर्दोष वताने की कोशिश की है, या कर्तार की ज्ञान-शक्ति पर संदेह प्रकट किया है।

कुछ देर बाद मैं चाय पीकर वहां से चलने लगा तो वसन्ते ने कुल छः आने मांगे। उसने हिसाव भी दिया—चार आने के अंडे, एक आने का घी और एक आने की चाय। मैं पैसे देकर बाहर निकला तो नत्थासिंह ने पीछे से आवाज़ दी, "भाई साहव, रात को खाना भी यहीं खाइएगा। आज आपके लिए स्पेशल चीज़ बनाएंगे ! ज़रूर आइएगा।"

उसके स्वर में ऐसा अनुरोध था कि मैं मुसकराए विना नहीं रह सका। सोचा कि उसने छः आने में क्या कमा लिया है जो मुझसे रात को फिर आने का अनुरोध कर रहा है।

शाम को सैर से लौटते हुए मैंने वुक एजेंसी से अखवार खरीदा और वैठकर पढ़ने के लिए एक वड़े-से रेस्तरां में चला गया। अन्दर पहुंचकर देखा कि कुर्सियां, मेज़ और सोफे करीने से सजे हुए हैं, पर न तो हाल में कोई वैरा है, और न ही काउण्टर पर कोई आदमी है। मैं एक सोफे पर वैठकर अखवार पढ़ने लगा। एक कुत्ता, जो उस सोफे से सटकर लेटा था, अव वहां से उठकर सामने के सोफे पर आ वैठा और मेरी तरफ देखकर जीभ लपलपाने लगा। मैंने एक वार हल्के-से मेज़ को थपथपाया, वैरे को आवाज़ दी, पर कोई इन्सानी सूरत सामने नहीं आई। अलवत्ता, कुत्ता सोफे से मेज़ पर आकर अव और भी पास से मेरी तरफ जीभ लपलपाने लगा। मैं अपने और उसके वीच अखवार का पर्दा करके खवरें पढ़ता रहा।

उस तरह वैठे हुए मुझे पन्द्रह-वीस मिनट वीत गए। आखिर जव मैं वहां

से उठने को हुआ तो बाहर का दरवाज़ा खुला और पाजामा-कमीज़ पहने एक आदमी अन्दर दाखिल हुआ। मुझे देखकर उसने दूर से सलाम किया और पास आकर ज़रा संकोच के साथ कहा, "माफ कीजिएगा, मैं एक बाबू का सामान मोटर के अड्डे तक छोड़ने चला गया था। आपको आए ज़्यादा देर तो नहीं हुई?"

मैंने उसके ढीले-ढाले जिस्म पर एक गहरी नज़र डाली और उससे पूछ लिया, "तुम यहां अकेले ही काम करते हो?"

"जी, आजकल अकेला ही हूं।" उसने जवाब दिया। "दिन-भर मैं यहीं रहता हूं, सिर्फ बस के वक्त किसी बाबू का सामान मिल जाए, तो अड्डे तक छोड़ने चला जाता हूं।"

"यहां का कोई मैनेजर नहीं है?" मैंने पूछा।

"जी, मालिक आप ही मनीजर है।" वह बोला, "वह आजकल अमृतसर में रहता है। यहां का सारा काम मेरे ज़िम्मे है।"

"तुम यहां चाय-वाय कुछ बनाते हो?"

"चाय, कॉफ़ी—जिस चीज़ का आर्डर दें, वह बन सकती है।"

"अच्छा, ज़रा अपना मेन्यू दिखाना।"

उसके चेहरे के भाव से मैंने अन्दाज़ा लगाया कि वह मेरी बात नहीं समझा। मैंने उसे समझाते हुए कहा, "तुम्हारे पास खाने-पीने की चीज़ों की छपी हुई लिस्ट होगी, वह ले आओ।"

"अभी लाता हूं जी," कहकर वह सामने की दीवार की तरफ़ चला गया और वहां से एक गत्ता उतार लाया। देखने पर मुझे पता चला कि वह उस होटल का लायसेंस है।

"यह तो यहां का लायसेंस है।" मैंने कहा।

"जी, छपी हुई लिस्ट तो यहां पर यही है।" वह असमंजस में पड़ गया।

"अच्छा ठीक है, मेरे लिए चाय ले आओ।" मैंने कहा।

"अच्छा जी!" वह बोला, "मगर साहब," और उसके स्वर में काफी आत्मीयता आ गई, "मैं कहता हूं, खाने का टैम है, खाना ही खाओ। चाय का क्या पीना! साली अन्दर जाकर नाड़ियों को जलाती है।"

मैं उसकी बात पर मन ही मन मुस्कराया। मुझे सचमुच भूख लग रही

थी, इसलिए मैंने पूछा, "सब्ज़ी-अब्ज़ी क्या बनाई है ?"

"आलू-मटर, आलू-टमाटर, भुर्ता, भिंडी, कोफ्ता, रायता···" वह जल्दी-जल्दी लम्बी सूची बोल गया।

"कितनी देर में ले आओगे ?" मैंने पूछा।

"बस जी पांच मिनट में।"

"तो आलू-मटर और रायता ले आओ। साथ खुश्क चपाती।"

"अच्छा जी !" वह बोला, "पर साहब," और फिर स्वर में वही आत्मीयता लाकर उसने कहा, "बरसात का मौसम है। रात के वक्त रायता नहीं खाओ तो अच्छा है। ठंडी चीज़ है। बाज़े वक्त नुकसान कर जाती है।"

उसकी आत्मीयता से प्रभावित होकर मैंने कहा, "अच्छा, सिर्फ आलू-मटर ले आओ।"

"बस अभी लो जी, अभी लाया !" कहता हुआ वह लकड़ी के ज़ीने से नीचे चला गया।

उसके जाने के बाद मैं कुत्ते से जी बहलाने लगा। कुत्ते को शायद बहुत दिनों से कोई चाहनेवाला नहीं मिला था। वह मेरे साथ ज़रूरत से ज़्यादा प्यार दिखाने लगा। चार-पांच मिनट के बाद बाहर का दरवाज़ा फिर खुला और एक पहाड़ी नवयुवती अन्दर आ गई। उसके कपड़ों और पीठ पर बंधी टोकरी से ज़ाहिर था कि वह वहां की कोयला बेचने वाली लड़कियों में से है। सुन्दरता का सम्बन्ध चेहरे की रेखाओं से ही हो, तो उसे सुन्दर कहा जा सकता था। वह सीधी मेरे पास आ गई और छूटते ही बोली, "बाबूजी, हमारे पैसे आज ज़रूर मिल जाएं।"

कुत्ता मेरे साथ था, इसलिए मैं उसकी बात से घबराया नहीं।

मेरे कुछ कहने से पहले ही वह बोली, "आपके आदमी ने एक किल्टा कोयला लिया था। आज छः-सात दिन हो गए। कहता था, दो दिन में पैसे मिल जाएंगे। मैं आज तीसरी बार मांगने आई हूं। आज मुझे पैसों की बहुत ज़रूरत है।"

मैंने कुत्ते को बांहों से निकल जाने दिया। मेरी आंखें उसकी नीली पुतलियों को देख रही थीं। उसके कपड़े—पाजामा, कमीज़, वास्कट, चादर और पटका—सभी बहुत मैले थे। मुझे उसकी ठोढ़ी की तराश बहुत सुन्दर लगी। सोचा कि उसकी ठोड़ी के सिरे पर अगर एक तिल भी होता।···

"मेरे चौदह आने पैसे हैं।" वह कह रही थी।

और मैं सोचने लगा कि उसे ठोड़ी के तिल और चौदह आने पैसे में से एक चीज़ चुनने को कहा जाए, तो वह क्या चुनेगी ?

"मुझे आज जाते हुए बाज़ार से सौदा लेकर जाना है।" वह कह रही थी।

"कल सवेरे आना !" उसी समय बैरे ने ज़ीने से ऊपर आते हुए कहा।

"रोज़ मुझसे कल सवेरे बोल देता है !" वह मुझे लक्ष्य करके ज़रा गुस्से के साथ बोली, "इससे कहिए कल सवेरे मेरे पैसे ज़रूर दे दे।"

"इनसे क्या कह रही है, ये तो यहां खाना खाने आए हैं," बैरा उसकी बात पर थोड़ा हंस दिया।

इससे लड़की की आंखों में एक संकोच की हल्की लहर दौड़ गई। वह अब बदले हुए स्वर में बोली, "आपको कोयला तो नहीं चाहिए ?"

"नहीं," मैंने कहा।

"चौदह आने का किल्टा दूंगी, कोयला देख लो।" कहते हुए उसने अपनी चादर की तह में से एक कोयला निकालकर मेरी तरफ बढ़ा दिया।

"ये यहां आकर खाना खाते हैं, इन्हें कोयला नहीं चाहिए।" अब बैरे ने उसे झिड़क दिया।

"आपको खाना बनाने के लिए नौकर चाहिए ?" मगर लड़की बात करने से नहीं रुकी। "मेरा छोटा भाई है। सब काम जानता है। पानी भी भरेगा, बरतन भी मलेगा।..."

"तू जाती है यहां से कि नहीं ?" बैरे का स्वर अब दुतकारने का-सा हो गया।

"आठ रुपये महीने में सारा काम कर देगा।" लड़की उस स्वर को महत्त्व न देकर कहती रही, "पहले एक डॉक्टर के घर में काम करता था। डॉक्टर अब यहां से चला गया है।..."

बैरे ने अब उसे बांह से पकड़ लिया और बाहर की तरफ ले जाता हुआ बोला, "चल-चल, जाकर अपना काम कर। कह दिया है, उन्हें नौकर नहीं चाहिए, फिर भी बके जा रही है।"

"मैं कल इसी वक्त उसे लेकर आऊंगी।" लड़की ने फिर भी चलते-चलते मुड़कर कह दिया।

बैरा उसे दरवाज़े से बाहर पहुंचाकर वापस आता हुआ बोला, "कमीन जात ! ऐसे गले पड़ जाती है कि बस···!"

"खाना अभी कितनी देर में लाओगे ?" मैंने उससे पूछा।

"बस जी पांच मिनट में लेकर आता हूं।" वह बोला, "आटा गूंधकर सब्ज़ी चढ़ा आया हूं। ज़रा नमक ले आऊं—आकर चपातियां बनाता हूं।"

ख़ैर, खाना मुझे काफ़ी देर से मिला। खाने के बाद मैं काफी देर तक ठण्डी-गरम सड़क पर टहलता रहा, क्योंकि पहाड़ियों पर छिटकी चांदनी बहुत अच्छी लग रही थी। लौटते वक़्त बाज़ार के पास से निकलते हुए मैंने सोचा कि नाश्ते के लिए सरदार नत्थासिंह से दो अंडे उबलवाकर लेता चलूं। दस बज चुके थे, पर नत्थासिंह की दुकान अभी खुली थी। मैं वहां पहुंचा तो नत्थासिंह और उसके दोनों बेटे पैरों पर बैठे खाना खा रहे थे। मुझे देखते ही बसन्ते ने कहा, "वह लो, आ गए भाई साहब !"

"हम कितनी देर तक इंतज़ार कर-करके अब खाना खाने बैठे हैं !" हरबंस बोला।

"खास आपके लिए मुर्गा बनाया था।" नत्थासिंह ने कहा, "हमने सोचा था कि भाई साहब देख लें कि हम कैसा खाना बनाते हैं। खयाल था दो-एक प्लेटें और लग जाएंगी। पर न आप आए, और न किसी और ने ही मुर्गे की प्लेट ली। अब हम तीनों खुद खाने बैठे हैं। मैंने मुर्गा इतने चाव से, इतने प्रेम से बनाया था कि क्या कहूं ! क्या पता था कि खुद ही खाना पड़ेगा। जिन्दगी में ऐसे भी दिन देखने थे ! वे भी दिन थे जब अपने लिए मुर्गे का शोरबा तक नहीं बचता था ! और एक दिन यह है। भरी हुई पतीली सामने रखकर बैठे हैं ! गांठ से साढ़े तीन रुपये लग गए, जो अब पेट में जाकर खनकते भी नहीं ! जो तेरी करनी मालिक !"

"इसमें मालिक की क्या करनी है ?" बसन्ता ज़रा तीखा होकर बोला, "जो करनी है, सब अपनी ही है ! आप ही को जोश आ रहा था कि चढ़ाई शुरू हो गई है, लोग आने लगे हैं, कोई अच्छी चीज़ बनानी चाहिए। मैंने कहा था कि अभी आठ-दस दिन ठहर जाओ, ज़रा चढ़ाई का रुख देख लेने दो। पर नहीं माने ! हठ करते रहे कि अच्छी चीज़ से मुहूरत करेंगे तो सीज़न अच्छा

गुज़रेगा। लो, हो गया मुहूरत ?"

उसी समय वह आदमी, जो कुछ घंटे पहले मुझे चेयरिंग क्रास पर मिला था, मेरे पास आकर खड़ा हो गया। अंधेरे में उसने मुझे नहीं पहचाना और छड़ी पर भार देकर नत्थासिंह से पूछा, "नत्थासिंह, एक ग्राहक भेजा था, आया था ?"

"कौन ग्राहक ?" नत्थासिंह चिढ़े-मुरझाए हुए स्वर में बोला।

"घुंघराले बालों वाला नौजवान था—मोटे शीशे का चश्मा लगाए हुए..."

"ये भाई साहब खड़े हैं !" इससे पहले कि वह मेरा और वर्णन करता, नत्थासिंह ने उसे होशियार कर दिया।

"अच्छा आ गए हैं !" उसने मुझे लक्ष्य करके कहा और फिर नत्थासिंह की तरफ देखकर बोला, "तो ला नत्थासिंह, चाय की प्याली पिला।"

कहता हुआ वह सन्तुष्ट भाव से अन्दर टीन की कुरसी पर जा बैठा। बसन्ता भट्ठी पर केतली रखते हुए जिस तरह से बुदबुदाया उससे ज़ाहिर था कि वह आदमी चाय की प्याली ग्राहक भेजने के बदले में पीने जा रहा है।

परमात्मा का कुत्ता

बहुत-से लोग यहां-वहां सिर लटकाए बैठे थे, जैसे किसी का मातम करने आए हों। कुछ लोग अपनी पोटलियां खोलकर खाना खा रहे थे। दो-एक व्यक्ति पगड़ियां सिर के नीचे रखकर कम्पाउण्ड के बाहर सड़क के किनारे बिखर गए थे। छोले-कुलचेवाले का रोज़गार गरम था, और कमेटी के नल के पास एक छोटा-मोटा क्यू लगा था। नल के पास कुरसी डालकर बैठा अर्ज़ीनवीस धड़ाधड़ अर्ज़ियां टाइप कर रहा था। उसके माथे से बहकर पसीना उसके होंठों पर आ रहा था, लेकिन उसे पोंछने की फुरसत नहीं थी। सफेद दाढ़ियों वाले दो-तीन लम्बे-ऊंचे जाट, अपनी लाठियों पर झुके हुए, उसके खाली होने का इंतज़ार कर रहे थे। धूप से बचने के लिए अर्ज़ीनवीस ने जो टाट का परदा लगा रखा था, वह हवा से उड़ा जा रहा था। थोड़ी दूर मोढ़े पर बैठा उसका लड़का अंग्रेज़ी प्राइमर को रट्टा लगा रहा था—सी ए टी कैट—कैट माने बिल्ली; बी ए टी बैट—बैट माने बल्ला; एफ ए टी फैट—फैट माने मोटा!·· कमीज़ों के आधे बटन खोले और बगल में फाइलें दबाए कुछ बाबू एक-दूसरे से छेड़खानी करते, रजिस्ट्रेशन ब्रांच से रिकार्ड ब्रांच की तरफ जा रहे थे। लाल बेल्ट वाला चपरासी, आस-पास की भीड़ से उदासीन, अपने स्टूल पर बैठा मन ही मन कुछ हिसाब कर रहा था। कभी उसके होंठ हिलते थे, और कभी सिर हिल जाता था। सारे कम्पाउण्ड में सितम्बर की खुली धूप फैली थी। चिड़ियों के कुछ बच्चे डालों से कूदने और फिर ऊपर को उड़ने का अभ्यास कर रहे थे और कई बड़े-बड़े कौए पोर्च के एक सिरे से

दूसरे सिरे तक चहलकदमी कर रहे थे। एक सत्तर-पचहत्तर की बुढ़िया, जिसका सिर कांप रहा था, और चेहरा झुर्रियों के गुंझल के सिवा कुछ नहीं था, लोगों से पूछ रही थी कि वह अपने लड़के के मरने के वाद उसके नाम एलाट हुई ज़मीन की हकदार हो जाती है या नहीं।···

अन्दर हाल कमरे में फाइलें धीरे-धीरे चल रही थीं। दो-चार वावू वीच की मेज़ के पास जमा होकर चाय पी रहे थे। उनमें से एक दफ्तरी कागज़ पर लिखी अपनी ताज़ा गज़ल दोस्तों को सुना रहा था, और दोस्त इस विश्वास के साथ सुन रहे थे कि वह जरूर उसने 'शमा' या 'वीसवीं सदी' के किसी पुराने अंक में से उड़ाई है।

"अज़ीज साहव, ये शे'र आपने आज ही कहे हैं, या पहले के कहे हुए शे'र आज अचानक याद हो आए हैं?" सांवले चेहरे और घनी मूंछों वाले एक वावू ने वाईं आंख को ज़रा-सा दवाकर पूछा। आस-पास खड़े सव लोगों के चेहरे खिल गए।

"यह विलकुल ताज़ा गज़ल है!" अज़ीज साहव ने अदालत में खड़े होकर हलफिया वयान देने के लहजे में कहा, "इससे पहले भी इसी वज़न पर कोई और चीज़ कही हो तो याद नहीं।" और फिर आंखों से सवके चेहरों को टटोलते हुए वे हल्की हंसी के साथ वोले, "अपना दीवान तो कोई रिसर्चदां ही मुरत्तव करेगा···।"

एक फरमायशी कहकहा लगा जिसे 'शी-शी' की आवाज़ों ने वीच में ही दवा दिया। कहकहे पर लगाई गई इस ब्रेक का मतलव था कि कमिश्नर साहव अपने कमरे में तशरीफ ले आए हैं। कुछ देर का वक्फा रहा, जिसमें गुरजीत-सिंह वल्द गुरमीतसिंह की फाइल एक मेज़ से एक्शन के लिए दूसरी मेज़ पर पहुंच गई, सुरजीतसिंह वल्द गुरमीतसिंह मुसकराता हुआ हाल से वाहर चला गया, और जिस वावू की मेज़ से फाइल गई थी, वह पांच रुपये के नोट को सहलाता हुआ चाय पीने वालों के जमघट में आ शामिल हुआ। अज़ीज साहव अब आवाज़ ज़रा धीमी करके गज़ल का अगला शे'र सुनाने लगे।

साहव के कमरे से घण्टी हुई। चपरासी मुस्तैदी से उठकर अन्दर गया, और उसी मुस्तैदी से वापस आकर फिर अपने स्टूल पर वैठ गया।

चपरासी से खिड़की का पर्दा ठीक कराकर कमिश्नर साहव ने मेज़ पर

रखे ढेर-से कागज़ों पर एकसाथ दस्तखत किए और पाइप सुलगाकर रीडर्ज़ डाइजेस्ट का ताज़ा अंक बैग से निकाल लिया। लेटीशिया वाल्ड्रिज का लेख कि उसे इतालवी मर्दों से क्यों प्यार है, वे पढ़ चुके थे। और लेखों में हृदय की शल्य-चिकित्सा के सम्बन्ध में जे० डी० रेडक्लिफ का लेख उन्होंने सबसे पहले पढ़ने के लिए चुन रखा था। पृष्ठ एक सौ ग्यारह खोलकर वे हृदय के नये ऑपरेशन का ब्यौरा पढ़ने लगे।

तभी बाहर से कुछ शोर सुनाई देने लगा।

कम्पाउण्ड में पेड़ के नीचे बिखरकर बैठे लोगों में चार नये चेहरे आ शामिल हुए थे। एक अधेड़ आदमी था जिसने अपनी पगड़ी ज़मीन पर बिछा ली थी और हाथ पीछे करके तथा टांगें फैलाकर उस पर बैठ गया था। पगड़ी के सिरे की तरफ उससे ज़रा बड़ी उम्र की एक स्त्री और एक जवान लड़की बैठी थीं; और उनके पास खड़ा एक दुबला-सा लड़का आस-पास की हर चीज़ को घूरती नज़र से देख रहा था। अधेड़ मरद की फैली हुई टांगें धीरे-धीरे पूरी खुल गई थीं और आवाज़ इतनी ऊंची हो गई थी कि कम्पाउण्ड के बाहर से भी बहुत-से लोगों का ध्यान उसकी तरफ खिंच गया था। वह बोलता हुआ, साथ अपने घुटने पर हाथ मार रहा था। "सरकार वक्त ले रही है? दस-पांच साल में सरकार फैसला करेगी कि अर्ज़ी मंज़ूर होनी चाहिए या नहीं। सालो, यमराज भी तो हमारा वक्त गिन रहा है। उधर वह वक्त पूरा होगा और इधर तुमसे पता चलेगा कि हमारी अर्ज़ी मंज़ूर हो गई है।"

चपरासी की टांगें ज़मीन पर पुख्ता हो गईं, और वह सीधा खड़ा हो गया। कम्पाउण्ड में बिखरकर बैठे और लेटे हुए लोग अपनी-अपनी जगह पर कस गए। कई लोग उस पेड़ के पास आ जमा हुए।

"दो साल से अर्ज़ी दे रखी है कि साली, ज़मीन के नाम पर तुमने मुझे जो गड्ढा एलाट कर दिया है, उसकी जगह कोई दूसरी ज़मीन दो। मगर दो साल से अर्ज़ी यहां के दो कमरे ही पार नहीं कर पाई!" वह आदमी अब जैसे एक मजमे में बैठकर तकरीर करने लगा, "इस कमरे से उस कमरे में अर्ज़ी के जाने में वक्त लगता है! इस मेज़ से उस मेज़ तक जाने में भी वक्त लगता है! सरकार वक्त ले रही है! लो, मैं आ गया हूं आज यहीं पर अपना सारा घर-बार लेकर। ले लो जितना वक्त तुम्हें लेना है···! सात

साल की भुखमरी के वाद सालों ने ज़मीन दी है मुझे—सौ मरले का गड्ढा! उसमें क्या मैं बाप-दादों की अस्थियां गाड़ूंगा? अर्ज़ी दी थी कि मुझे सौ मरले की जगह पचास मरले दे दो—लेकिन ज़मीन तो दो! मगर अर्ज़ी दो साल से वक्त ले रही है! मैं भूखा मर रहा हूं, और अर्ज़ी वक्त ले रही है!"

चपरासी अपने हथियार लिए हुए आगे आया—माथे पर त्योरियां और आंखों में क्रोध। आस-पास की भीड़ को हटाता हुआ वह उसके पास आ गया।

"ए मिस्टर, चल हियां से बाहर!" उसने हथियारों की पूरी चोट के साथ कहा, "चल...उठ...!"

"मिस्टर आज यहां से नहीं उठ सकता!" वह आदमी अपनी टांगें थोड़ी और चौड़ी करके बोला, "मिस्टर आज यहां का बादशाह है। पहले मिस्टर देश के बेताज बादशाहों की जय बुलाता था। अब वह किसी की जय नहीं बुलाता। अब वह खुद यहां का बादशाह है...बेताज बादशाह! उसे कोई लाज-शरम नहीं है। उस पर किसी का हुक्म नहीं चलता। समझे, चपरासी बादशाह?"

"अभी तुझे पता चल जाएगा कि तुझ पर किसी का हुक्म चलता है या नहीं!" चपरासी बादशाह और गरम हुआ, "अभी पुलिस के सुपुर्द कर दिया जाएगा तो तेरी सारी बादशाही निकल जाएगी।..."

"हा-हा!" बेताज बादशाह हंसा, "तेरी पुलिस मेरी बादशाही निकालेगी? तू बुला पुलिस को! मैं पुलिस के सामने नंगा हो जाऊंगा और कहूंगा कि निकालो मेरी बादशाही! हममें से किस-किस की बादशाही निकालेगी पुलिस? ये मेरे साथ तीन बादशाह और हैं। यह मेरे भाई की बेवा है—उस भाई की, जिसे पाकिस्तान में टांगों से पकड़कर चीर दिया गया था। यह मेरे भाई का लड़का है जो अभी से तपेदिक का मरीज़ है। और यह मेरे भाई की लड़की है जो अब व्याहने लायक हो गई है। इसकी बड़ी कुंवारी बहन आज भी पाकिस्तान में है। आज मैंने इन सबको बादशाही दे दी है। तू ले आ जाकर अपनी पुलिस, कि आकर इन सबकी बादशाही निकाल दे। कुत्ता साला!..."

अन्दर से कई-एक बाबू निकलकर बाहर आ गए थे। 'कुत्ता साला

चपरासी आपे से वाहर हो गया। वह तैश में उसे वांह से पकड़कर घसीटने लगा, "तुझे अभी पता चल जाता है कि कौन साला कुत्ता है! मैं तुझे मार-मारकर ···" और उसने उसे अपने टूटे हुए बूट की एक ठोकर दी। स्त्री और लड़की सहमकर वहां से हट गईं। लड़का एक तरफ खड़ा होकर रोने लगा।

वावू लोग भीड़ हटाते हुए आगे बढ़ आए और उन्होंने चपरासी को उस आदमी के पास से हटा लिया। चपरासी फिर भी बड़बड़ाता रहा, "कमीना आदमी, दफ्तर में आकर गाली देता है। मैं अभी तुझे दिखा देता कि···!"

"एक तुम्हीं नहीं, यहां तुम सब के सब कुत्ते हो!" वह आदमी कहता रहा। "तुम सब भी कुत्ते हो, और मैं भी कुत्ता हूं! फर्क इतना है कि तुम लोग सरकार के कुत्ते हो—हम लोगों की हड्डियां चूसते हो और सरकार की तरफ से भौंकते हो। मैं परमात्मा का कुत्ता हूं। उसकी दी हुई हवा खाकर जीता हूं, और उसकी तरफ से भौंकता हूं। उसका घर इन्साफ का घर है। मैं उसके घर की रखवाली करता हूं। तुम सब उसके इन्साफ की दौलत के लुटेरे हो। तुम पर भौंकना हमारा फर्ज है, मेरे मालिक का फरमान है। मेरा तुमसे अजली वैर है। कुत्ते का कुत्ता वैरी होता है। तुम मेरे दुश्मन हो, मैं तुम्हारा दुश्मन हूं। मैं अकेला हूं, इसलिए तुम सब मिलकर मुझे मारो। मुझे यहां से निकाल दो। लेकिन मैं फिर भी भौंकता रहूंगा। तुम मेरा भौंकना वन्द नहीं कर सकते। मेरे अन्दर मेरे मालिक का नूर है, मेरे वाहगुरु का तेज है। मुझे जहां वन्द कर दोगे, मैं वहां भौंकूंगा और भौंक-भौंककर तुम सबके कान फाड़ दूंगा। साले, आदमी के कुत्ते, जूठी हड्डी पर मरने वाले कुत्ते, दुम हिला-हिलाकर जीने वाले कुत्ते! ···"

"वावाजी, वस करो!" एक वावू हाथ जोड़कर वोला, "हम लोगों पर रहम खाओ, और अपनी यह सन्तवानी वन्द करो। वताओ तुम्हारा नाम क्या है, तुम्हारा केस क्या है? ···"

"मेरा नाम है वारह सौ छब्बीस वटा सात! मेरे मां-बाप का दिया हुआ नाम खा लिया कुत्तों ने! अव यही नाम है जो तुम्हारे दफ्तर का दिया हुआ है। मैं वारह सौ छब्बीस वटा सात हूं। मेरा और कोई नाम नहीं है। मेरा यह नाम याद कर लो। अपनी डायरी में लिख लो। वाहगुरु का कुत्ता—वारह

सौ छब्बीस बटा सात !"

"बाबाजी, आज जाओ, कल या परसों आ जाना। तुम्हारी अर्ज़ी की कार्रवाई तकरीबन-तकरीबन पूरी हो चुकी है।…"

"तकरीबन-तकरीबन पूरी हो चुकी है! और मैं खुद भी तकरीबन-तकरीबन पूरा हो चुका हूं। अब देखना यह है कि पहले कार्रवाई पूरी होती है, कि पहले मैं पूरा होता हूं। एक तरफ सरकार का हुनर है, और दूसरी तरफ परमात्मा का हुनर है! तुम्हारा तकरीबन-तकरीबन अभी दफ्तर में ही रहेगा और मेरा तकरीबन-तकरीबन कफन में पहुंच जाएगा। सालों ने सारी पढ़ाई खर्च करके दो लफ्ज़ ईज़ाद किए हैं—शायद और तकरीबन! शायद आपके कागज़ ऊपर चले गए हैं—तकरीबन-तकरीबन कार्रवाई पूरी हो चुकी है! शायद से निकालो और तकरीबन में डाल दो! तकरीबन से निकालो और शायद में गर्क कर दो! 'तकरीबन तीन-चार महीने में तहकीकात होगी।…शायद महीने, दो महीने में रिपोर्ट आएगी!' मैं आज शायद और तकरीबन दोनों घर पर छोड़ आया हूं। मैं यहां बैठा हूं और यहीं बैठा रहूंगा। मेरा काम होना है, तो आज ही होगा और अभी होगा। तुम्हारे शायद और तकरीबन के गाहक ये सब खड़े हैं। यह ठगी इनसे करो।…"

बाबू लोग अपनी सद्भावना के प्रभाव से निराश होकर एक-एक करके अन्दर लौटने लगे।

"बैठा है, बैठा रहने दो।"

"बकता है, बकने दो।"

"साला बदमाशी से काम निकालना चाहता है।"

"लेट हिम बार्क हिमसेल्फ टु डेथ!"

बाबुओं के साथ चपरासी भी बड़बड़ाता हुआ अपने स्टूल पर लौट गया। "मैं साले के दांत तोड़ देता! अब बाबू लोग हाकिम हैं, और हाकिमों का कहा मानना पड़ता है, वरना…!"

"अरे बाबा, शान्ति से काम ले। यहां मिन्नत चलती है, पैसा चलत घौंस नहीं चलती।" भीड़ में से कोई उसे समझाने लगा।

वह आदमी उठकर खड़ा हो गया।

"मगर परमात्मा का हुक्म हर जगह चलता है!" वह अपनी कमी

हुआ बोला, "और परमात्मा के हुक्म से आज बेताज बादशाह नंगा होकर कमिश्नर साहब के कमरे में जाएगा। आज वह नंगी पीठ पर साहब के डंडे खाएगा। आज वह बूटों की ठोकर खाकर प्राण देगा। लेकिन वह किसीकी मिन्नत नहीं करेगा। किसीको पैसा नहीं चढ़ाएगा। किसीकी पूजा नहीं करेगा। जो वाहगुरु की पूजा करता है, वह किसीकी पूजा नहीं कर सकता। तो वाह-गुरु का नाम लेकर···"

और इससे पहले कि वह अपने कहे को किए में परिणत करता, दो-एक आदमियों ने बढ़कर तहमद की गांठ पर रखे उसके हाथ को पकड़ लिया। बेताज बादशाह अपना हाथ छुड़ाने के लिए संघर्ष करने लगा।

"मुझे जाकर पूछने दो कि क्या महात्मा गांधी ने इसीलिए इन्हें आज़ादी दिलाई थी कि ये आज़ादी के साथ इस तरह सम्भोग करें? उसकी मिट्टी खराब करें? उसके नाम पर कलंक लगाएं? उसे टके-टके की फाइलों में बांधकर ज़लील करें? लोगों के दिलों में उसके लिए नफरत पैदा करें? इन्सान के तन पर कपड़े देखकर बात इन लोगों की समझ में नहीं आती। शरम तो उसे होती है जो इन्सान हो। मैं तो आप कहता हूं कि मैं इन्सान नहीं, कुत्ता हूं! ···"

सहसा भीड़ में एक दहशत-सी फैल गई। कमिश्नर साहब अपने कमरे से बाहर निकल आए थे। वे माथे की त्योरियों और चेहरे की झुर्रियों को गहरा किए भीड़ के बीच में आ गए।

"क्या बात है? क्या चाहते हो तुम?"

"आपसे मिलना चाहता हूं! साहब," वह आदमी साहब को घूरता हुआ बोला, "सौ मरले का एक गड्ढा मेरे नाम एलाट हुआ है। वह गड्ढा आपको वापस करना चाहता हूं ताकि सरकार उसमें एक तालाब बनवा दे, और अफसर लोग शाम को वहां जाकर मछलियां मारा करें। या उस गड्ढे में सरकार एक तहखाना बनवा दे और मेरे जैसे सारे कुत्तों को उसमें बन्द कर दे! ···"

"ज़्यादा बकबक मत करो, और अपना केस लेकर मेरे पास आओ।"

"मेरा केस मेरे पास नहीं है, साहब! दो साल से सरकार के पास है—आपके पास है। मेरे पास अपना शरीर और दो कपड़े हैं। चार दिन बाद ये भी नहीं रहेंगे, इसलिए इन्हें भी आज ही उतारे दे रहा हूं। इसके बाद बाकी सिर्फ बारह सौ छब्बीस बटा सात रह जाएगा। बारह सौ छब्बीस बटा सात

को मार-मारकर परमात्मा के हुज़ूर में भेज दिया जाएगा ! ..."

"यह बकवास बन्द करो और मेरे साथ अन्दर आओ।"

और कमिश्नर साहब अपने कमरे में वापस चले गए। वह आदमी भी अपनी कमीज़ कन्धे पर रखे उस कमरे की तरफ चल दिया।

"दो साल चक्कर लगाता रहा, किसीने बात नहीं सुनी। खुशामदें करता रहा, किसीने बात नहीं सुनी। वास्ते देता रहा, किसीने बात नहीं सुनी। ..."

चपरासी ने उसके लिए चिक उठा दी और वह कमिश्नर साहब के कमरे में दाखिल हो गया। घण्टी बजी, फाइलें हिलीं, बाबुओं की बुलाहट हुई और आधे घंटे के बाद बेताज बादशाह मुस्कराता हुआ बाहर निकल आया। उत्सुक आंखों की भीड़ ने उसे आते देखा, तो वह फिर बोलने लगा, "चूहों की तरह बिटर-बिटर देखने से कुछ नहीं होता। भौंको, भौंको, सब के सब भौंको ! अपने-आप सालों के कान फट जाएंगे। भौंको कुत्तो, भौंको ! ..."

उसकी भौजाई दोनों बच्चों के साथ गेट के पास खड़ी इंतज़ार कर रही थी। लड़के और लड़की के कन्धों पर हाथ रखे हुए वह सचमुच बादशाह की तरह सड़क पर चलने लगा।

"हयादार हो, तो सालहा-साल मुंह लटकाए हुए खड़े रहो। अर्ज़ियां टाइप कराओ और नल का पानी पियो। सरकार वक्त ले रही है ! नहीं तो बेहया बनो। बेहयाई हज़ार बरकत है !"

वह सहसा रुका और ज़ोर से हंसा :

"यारो, बेहयाई हजार बरकत है !"

उसके चले जाने के बाद कम्पाउंड में और आस-पास मातमी वातावरण पहले से और गहरा हो गया। भीड़ धीरे-धीरे बिखरकर अपनी जगहों पर चली गई। चपरासी की टांगें फिर स्टूल पर झूलने लगीं। सामने के कैंटीन का लड़का बाबुओं के कमरे में एक सेट चाय ले गया। अर्ज़ीनवीस की मशीन चलने लगी और टिक-टिक की आवाज़ के साथ उसका लड़का फिर अपना सबक दोहराने लगा, "पी ई एन पेन—पेन माने कलम; एच ई एन हेन—हेन माने मुर्गी; डी ई एन डेन—डेन माने अंधेरी गुफा ! ..."

अपरिचित

कोहरे की वजह से खिड़कियों के शीशे धुंधले-से पड़ गए थे। गाड़ी चालीस की रफ्तार से सुनसान अंधेरे को चीरती चली जा रही थी। खिड़की से सिर सटाकर भी बाहर कुछ दिखाई नहीं देता था। फिर भी मैं देखने की कोशिश कर रहा था। किसी-किसी पेड़ की हलकी-गहरी रेखा ही गुज़रती नज़र आ जाती तो कुछ देख लेने का सन्तोष होता। मन को उलझाए रखने के लिए इतना ही काफी था। आंखों में ज़रा नींद नहीं थी। गाड़ी को जाने कितनी देर बाद कहीं जाकर रुकना था। जब और कुछ दिखाई न देता, तो अपना प्रतिबिम्ब तो कम से कम देखा ही जा सकता था। अपने प्रतिबिम्ब के अलावा और भी कई प्रतिबिम्ब थे। ऊपर की बर्थ पर सोए व्यक्ति का प्रतिबिम्ब अजब बेबसी के साथ हिल रहा था। सामने की बर्थ पर बैठी स्त्री का प्रतिबिम्ब बहुत उदास था। उसकी भारी पलकें पल-भर के लिए ऊपर उठतीं, फिर झुक जातीं। आकृतियों के अलावा कई बार नई-नई आवाज़ें ध्यान बंटा देतीं जिनसे पता चलता कि गाड़ी पुल पर से जा रही है या मकानों की कतार के पास से गुज़र रही है। बीच में सहसा इंजन की चीख सुनाई दे जाती जिससे अंधेरा और एकान्त और गहरे महसूस होने लगते।

मैंने घड़ी में वक्त देखा। सवा ग्यारह बजे थे। सामने बैठी स्त्री की आंखें बहुत सुनसान थीं। बीच-बीच में उनमें एक लहर-सी उठती और विलीन हो जाती। वह जैसे आंखों से देख रही थी, सोच रही थी। उसकी बच्ची, जिसे फर के कम्बलों में लपेटकर सुलाया गया था, ज़रा-ज़रा कुनमुनाने लगी। उसकी गुलाबी

टोपी सिर से उतर गई थी। उसने दो-एक बार पैर पटके, अपनी बंधी हुई मुट्ठियां उठाईं और रोने लगी। स्त्री की सुनसान आंखें सहसा उमड़ आईं। उसने बच्ची के सिर पर टोपी ठीक कर दी और उसे कम्बलों समेत उठाकर छाती से लगा लिया।

मगर इससे बच्ची का रोना बन्द नहीं हुआ। उसने उसे हिलाकर और दुलार-कर चुप करना चाहा, मगर वह फिर भी रोती रही। इसपर उसने कम्बल थोड़ा हटाकर बच्ची के मुंह में दूध दे दिया और उसे अच्छी तरह अपने साथ सटा लिया।

मैं फिर खिड़की से सर सटाकर बाहर देखने लगा। दूर बत्तियों की एक कतार नज़र आ रही थी। शायद कोई आबादी थी, या सिर्फ सड़क ही थी। गाड़ी तेज़ रफ्तार से चल रही थी और इंजन बहुत पास होने से कोहरे के साथ धुआं भी खिड़की के शीशों पर जमता जा रहा था। आबादी या सड़क, जो भी वह थी, अब धीरे-धीरे पीछे जा रही थी। शीशे में दिखाई देते प्रतिबिम्ब पहले से गहरे हो गए थे। स्त्री की आंखें मुंद गई थीं और ऊपर लेटे व्यक्ति की बांह ज़ोर-ज़ोर से हिल रही थी। शीशे पर मेरी सांस के फैलने से प्रतिबिम्ब और धुंधले हो गए थे। यहां तक कि धीरे-धीरे सब प्रतिबिम्ब अदृश्य हो गए। मैंने तब जेब से रूमाल निकालकर शीशे को अच्छी तरह पोंछ दिया।

स्त्री ने आंखें खोल ली थीं और एकटक सामने देख रही थी। उसके होंठों पर एक हल्की-सी रेखा फैली थी, जो ठीक मुसकराहट नहीं थी। मुसकराहट से बहुत कम व्यक्त उस रेखा में कहीं गम्भीरता भी थी और अवसाद भी—जैसे वह अनायास उभर आई किसी स्मृति की रेखा थी। उसके माथे पर हल्की-सी सिकुड़न पड़ गई थी।

बच्ची जल्दी ही दूध से हट गई। उसने सिर उठाकर अपना बिना दांत का मुंह खोल दिया और किलकारी भरती हुई मां की छाती पर मुट्ठियों से चोट करने लगी। दूसरी तरफ से आती एक गाड़ी तेज़ रफ्तार में पास से गुज़री तो वह ज़रा सहम गई, मगर गाड़ी के निकलते ही और भी मुंह खोलकर किलकारी भरने लगी। बच्ची का चेहरा गदराया हुआ था और उसकी टोपी के नीचे से भूरे रंग के हल्के-हल्के बाल नज़र आ रहे थे। उसकी नाक ज़रा छोटी थी, पर आंखें मां की ही तरह गहरी और फैली हुई थीं। मां के गाल और कपड़े नोचकर उसकी

आंखें मेरी तरफ घूम गईं और वह बांहें हवा में पटकती हुई मुझे अपनी किलकारियों का निशाना बनाने लगी।

स्त्री की पलकें उठीं और उसकी उदास आंखें क्षण-भर मेरी आंखों से मिली रहीं। मुझे उस क्षण-भर के लिए लगा कि मैं एक ऐसे क्षितिज को देख रहा हूं जिसमें गहरी सांझ के सभी हल्के गहरे रंग झिलमिला रहे हैं और जिसका दृश्य-पट क्षण के हर सौवें हिस्से में बदलता जा रहा है।···

बच्ची मेरी तरफ देखकर बहुत हाथ पटक रही थी, इसलिए मैंने अपने हाथ उसकी तरफ बढ़ा दिए और कहा, "आ बेटे, आ···।"

मेरे हाथ पास आ जाने से बच्ची के हाथों का हिलना बन्द हो गया और उसके होंठ रुआंसे हो गए।

स्त्री ने बच्ची के होंठों को अपने होंठों से छुआ और कहा, "जा बिट्टू, जाएगी उनके पास ?"

लेकिन बिट्टू के होंठ और रुआंसे हो गए और वह मां के साथ सट गई।

"गैर आदमी से डरती है !" मैंने मुसकराकर कहा और हाथ हटा लिए।

स्त्री के होंठ भिच गए और माथे की खाल में थोड़ा खिचाव आ गया। उसकी आंखें जैसे अतीत में चली गईं। फिर सहसा वहां से लौट आईं और वह बोली, "नहीं, डरती नहीं। इसे दरअसल आदत नहीं है। यह आज तक या तो मेरे हाथों में रही है या नौकरानी के···" और वह उसके सिर पर झुक गई। बच्ची उसके साथ सटकर आंखें झपकने लगी। महिला उसे हिलाती हुई थपकियां देने लगी। बच्ची ने आंखें मूंद लीं। महिला उसकी तरफ देखती हुई, जैसे चूमने के लिए होंठ बढ़ाए, उसे थपकियां देती रही। फिर एकाएक उसने झुककर उसे चूम लिया।

"बहुत अच्छी है हमारी बिट्टू, झट से सो जाती है !" यह उसने जैसे अपने से कहा और मेरी तरफ देखा। उसकी आखों में एक उदास-सा उत्साह भर रहा था।

"कितनी बड़ी है यह बच्ची ?" मैंने पूछा।

"दस दिन बाद पूरे चार महीने की हो जाएगी," वह बोली, "पर देखने में अभी उससे छोटी लगती है। नहीं ?"

मैंने आंखों से उसकी बात का समर्थन किया। उसके चेहरे में एक अपनी ही सहजता थी—मैंने सोई हुई बच्ची के गाल को ज़रा-सा सहला दिया। स्त्री का चेहरा और भावपूर्ण हो गया।

"लगता है आपको बच्चों से बहुत प्यार है," वह बोली, "आपके कितने बच्चे हैं?"

मेरी आंखें उसके चेहरे से हट गईं। बिजली की बत्ती के पास एक कीड़ा उड़ रहा था।

"मेरे?" मैंने मुसकराने की कोशिश करते हुए कहा, "अभी तो कोई नहीं है, मगर···।"

"मतलब ब्याह हुआ है, अभी बच्चे-अच्चे नहीं हुए।" वह मुसकराई। "आप मर्द लोग तो बच्चों से बचे ही रहना चाहते हैं न?"

मैंने होंठ सिकोड़ लिए और कहा, "नहीं, यह बात नहीं···।"

"हमारे ये तो बच्ची को छूते भी नहीं!" वह बोली, "कभी दो मिनट के लिए भी उठाना पड़ जाए तो झल्लाने लगते हैं। अब तो खैर वे इस मुसीबत से छुटकर बाहर ही चले गए हैं।" और सहसा उसकी आंखें छलछला आईं। रुलाई की वजह से उसके होंठ बिलकुल उस बच्ची जैसे हो गए थे। फिर सहसा उसके होंठों पर मुसकराहट लौट आई—जैसा अक्सर सोए हुए बच्चों के साथ होता है। उसने आंखें झपककर अपने को सहेज लिया और बोली, "वे डाक्टरेट के लिए इंग्लैण्ड गए हैं। मैं उन्हें बम्बई में जहाज़ पर चढ़ाकर आ रही हूं।···वैसे छः-आठ महीने की ही बात है। फिर मैं भी उनके पास चली जाऊंगी।"

फिर उसने ऐसी नज़र से मुझे देखा जैसे उसे शिकायत हो कि मैंने उसकी इतनी व्यक्तिगत बात क्यों जान ली।

"आप बाद में अकेली जाएंगी?" मैंने पूछा, "इससे तो आप अभी साथ चली जातीं···।"

उसके होंठ सिकुड़ गये और आंखें फिर अन्तर्मुख हो गईं। वह कई पल अपने में डूबी रही और उसी भाव से बोली, "साथ तो नहीं जा सकती थी क्योंकि अकेले उनके जाने की भी सुविधा नहीं थी। लेकिन उनको मैंने किसी तरह भेज दिया है। चाहती थी कि उनकी कोई भी चाह मुझसे पूरी हो जाए।··· दीशी की बाहर जाने की बहुत इच्छा थी।···अब छः-आठ महीने में अपना

तनखाह में से कुछ पैसा बचाऊंगी और थोड़ा-बहुत कहीं से उधार लेकर अपने जाने का इंतज़ाम करूंगी।"

उसने सोच में डूबती-उतराती अपनी आंखों को सहसा सचेत कर लिया और फिर कुछ क्षण शिकायत की नज़र से मुझे देखती रही। फिर बोली, "अभी बिट्टू भी बहुत छोटी है न? छः-आठ महीने में यह बड़ी हो जाएगी और मैं भी तब तक थोड़ा और पढ़ लूंगी। दीशी की बहुत इच्छा है कि मैं एम० ए० कर लूं। मगर मैं ऐसी जड़ और नाकारा हूं कि उनकी कोई भी चाह पूरी नहीं कर पाती। इसीलिए इस बार उन्हें भेजने के लिए मैंने अपने सब गहने बेच दिए हैं। अब मेरे पास बस मेरी बिट्टू है, और कुछ नहीं।" और वह बच्ची के सिर पर हाथ फेरती हुई भरी-भरी नज़र से उसे देखती रही।

बाहर वही सुनसान अंधेरा था, वही लगातार सुनाई देती इंजन की फक्-फक्! शीशे से आंख गाड़ लेने पर भी दूर तक वीरानगी ही वीरानगी नज़र आती थी।

मगर उस स्त्री की आंखों में जैसे दुनिया-भर की वत्सलता सिमट आई थी। वह फिर कई क्षण अपने में डूबी रही। फिर उसने एक उसांस ली और बच्ची को अच्छी तरह कम्बलों में लपेटकर सीट पर लिटा दिया।

ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ आदमी खुर्राटे भर रहा था। एक बार करवट बदलते हुए वह नीचे गिरने को हुआ, पर सहसा हड़बड़ाकर संभल गया। फिर कुछ ही देर में वह और ज़ोर से खुर्राटे भरने लगा।

"लोगों को जाने सफर में कैसे इतनी गहरी नींद आ जाती है!" वह स्त्री बोली, "मुझे दो-दो रातें सफर करना हो तो भी मैं एक पल नहीं सो पाती। अपनी-अपनी आदत होती है!"

"हां, आदत की ही बात है।" मैंने कहा। "कुछ लोग बहुत निश्चिन्त होकर जीते हैं और कुछ होते हैं कि···।"

"बगैर चिन्ता के जी ही नहीं सकते।" और वह हंस दी। उसकी हंसी का स्वर भी बच्चों जैसा ही था। उसके दांत बहुत छोटे-छोटे और चमकीले थे। मैंने भी उसकी हंसी में साथ दिया।

"मेरी बहुत खराब आदत है।" वह बोली, "मैं बात-बेबात के सोचती रहती हूं। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मैं सोच-सोचकर पागल हो जाऊंगी। ये

मुझसे कहते हैं कि मुझे लोगों से मिलना-जुलना चाहिए, खुलकर हंसना, बात करना चाहिए, मगर इनके सामने मैं ऐसे गुम-सुम हो जाती हूं कि क्या कहूं ! वैसे और लोगों से भी मैं ज़्यादा बात नहीं करती लेकिन इनके सामने ऐसी चुप्पी छा जाती है जैसे मुंह में ज़बान हो ही नहीं··· ।···अब देखिए न इस वक्त कैसे लतर-लतर बात कर रही हूं !" और वह मुसकराई। उसके चेहरे पर हल्की-सी संकोच की रेखा आ गई ।

"रास्ता काटने के लिए बात करना ज़रूरी हो जाता है।" मैंने कहा, "खास तौर से जब नींद आ रही हो ।"

उसकी आंखें पल-भर फैली रहीं । फिर वह गरदन ज़रा झुकाकर बोली, "ये कहते हैं कि जिसके मुंह में ज़बान ही न हो, उसके साथ पूरी ज़िन्दगी कैसे काटी जा सकती है ? ऐसे इंसान में और पालतू जानवर में क्या फर्क है ? मैं हज़ार चाहती हूं कि इन्हें खुश दिखाई दूं और इनके सामने कोई न कोई बात करती रहूं, लेकिन मेरी सारी कोशिशें बेकार चली जाती हैं। इन्हें फिर गुस्सा आ जाता है और मैं रो देती हूं। इन्हें मेरा रोना बहुत बुरा लगता है ।" कहते हुए उसकी आंखों में आंसू झलक आए जिन्हें उसने अपनी साड़ी के पल्ले से पोंछ लिया ।

"मैं बहुत पागल हूं !" वह फिर बोली, "ये जितना मुझे टोकते हैं, मैं उतना ही ज़्यादा रोती हूं। दरअसल ये मुझे समझ नहीं पाते । मुझे बात करना अच्छा नहीं लगता, फिर जाने क्यों ये मुझे बात करने के लिए मजबूर करते हैं !" और फिर माथे को हाथ से दबाए हुए बोली, "आप भी अपनी पत्नी से ज़बर्दस्ती बात करने के लिए कहते हैं ?"

मैंने पीछे टेक लगाकर कन्धे सिकोड़ लिए और हाथ बगलों में दबाए बत्ती के पास उड़ते कीड़े को देखने लगा। फिर सिर को ज़रा-सा झटककर मैंने उसकी तरफ देखा । वह उत्सुक नज़र से मेरी तरफ देख रही थी ।

"मैं ?" मैंने मुस्कराने की चेष्टा करते हुए कहा, "मुझे यह कहने का [illegible] मौका ही नहीं मिल पाता। मैं बल्कि पांच साल से यह चाह रहा हूं कि वह [illegible] कम बात किया करे । मैं समझता हूं कि कई बार इंसान चुप रहकर [illegible] बात कह सकता है। ज़बान से कही बात में वह रस नहीं होता [illegible] चमक से या होंठों के कंपन से या माथे की एक लकीर से कही गई [illegible]

है। मैं जब उसे यह समझाना चाहता हूं, तो वह मुझे विस्तारपूर्वक बतला देती है कि ज़्यादा बात करना इंसान की निश्छलता का प्रमाण है और कि मैं इतने सालों में अपने प्रति उसकी भावना को समझ नहीं सका। वह दरअसल कालेज में लेक्चरर है और वह अपनी आदत की वजह से घर में भी लेक्चर देती रहती है।"

"ओह !" वह थोड़ी देर दोनों हाथों से अपना मुंह छिपाए रही। फिर बोली, "*ऐसा क्यों होता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।* मुझे दीशी से यही शिकायत है कि वे मेरी बात नहीं समझ पाते। मैं कई बार उनके बालों में अपनी उंगलियां उलझाकर उनसे बात करना चाहती हूं, कई बार उनके घुटनों पर सिर रखकर मुंदी आंखों से कितना कुछ कहना चाहती हूं। लेकिन उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता। वे कहते हैं कि यह सब गुड़ियों का खेल है, उनकी पत्नी को जीता-जागता इंसान होना चाहिए। और मैं इंसान बनने की बहुत कोशिश करती हूं, लेकिन नहीं बन पाती, कभी नहीं बन पाती। इन्हें मेरी कोई आदत अच्छी नहीं लगती। मेरा मन होता है कि चांदनी रात में खेतों में घूमूं, या नदी में पैर डालकर घंटों बैठी रहूं, मगर ये कहते हैं कि ये सब आइडल मन की वृत्तियां हैं। इन्हें क्लब, संगीत-सभाएं और डिनर पार्टियां अच्छी लगती हैं। मैं इनके साथ वहां जाती हूं तो मेरा दम घुटने लगता है। मुझे वहां ज़रा अपनापन महसूस नहीं होता। ये कहते हैं कि तू पिछले जन्म में मेंढकी थी जो तुझे क्लब में बैठने की बजाय खेतों में मेंढकों की आवाज़ें सुनना ज़्यादा अच्छा लगता है। मैं कहती हूं कि मैं इस जन्म में भी मेंढकी हूं। मुझे बरसात में भीगना बहुत अच्छा लगता है और भीगकर मेरा मन कुछ न कुछ गुनगुनाने को करने लगता है—हालांकि मुझे गाना नहीं आता। मुझे क्लब में सिगरेट के धुएं में घुटकर बैठे रहना नहीं अच्छा लगता। वहां मेरे प्राण गले को आने लगते हैं।"

उस थोड़े-से समय में ही मुझे उसके चेहरे का उतार-चढ़ाव काफी परिचित लगने लगा था। उसकी बात सुनते हुए मेरे मन पर हल्की उदासी छाने लगी थी, हालांकि मैं जानता था कि वह कोई भी बात मुझसे नहीं कह रही—वह अपने से बात करना चाहती है और मेरी मौजूदगी उसके लिए सिर्फ एक बहाना है। मेरी उदासी भी उसके लिए न होकर अपने लिए थी, क्योंकि बात उससे करते हुए भी मुख्य रूप से मैं सोच अपने विषय में रहा था। मैं पांच साल से मंज़िल-दर-मंज़िल विवाहित जीवन से गुज़रता आ रहा था—रोज़ यही सोचते हुए कि

शायद आनेवाला कल ज़िंदगी के इस ढांचे को बदल देगा। सतह पर हर चीज़ ठीक थी, कहीं कुछ गलत नहीं था, मगर सतह से नीचे जीवन कितनी-कितनी उलझनों और गांठों से भरा था! मैंने विवाह के पहले दिनों में ही जान लिया था कि नलिनी मुझसे विवाह करके सुखी नहीं हो सकी क्योंकि मैं उसकी कोई भी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने में सहायक नहीं हो सकता। वह एक भरा-पूरा घर चाहती थी, जिसमें उसका शासन हो और ऐसा सामाजिक जीवन जिसमें उसे महत्त्व का दर्जा प्राप्त हो। वह अपने से स्वतन्त्र अपने पति के मानसिक जीवन की कल्पना नहीं करती थी। उसे मेरी भटकने की वृत्ति और साधारण का मोह मानसिक विकृतियां लगती थीं जिन्हें वह अपने अधिक स्वस्थ जीवन-दर्शन से दूर करना चाहती थी। उसने इस विश्वास के साथ जीवन आरम्भ किया था कि वह मेरी त्रुटियों की क्षतिपूर्ति करती हुई बहुत शीघ्र मुझे सामाजिक दृष्टि से सफल व्यक्ति बनने की दिशा में ले जाएगी। उसकी दृष्टि में यह मेरे संस्कारों का दोष था जो मैं इतना अन्तर्मुख रहता था और इधर-उधर मिल-जुलकर आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करता था। वह इस परिस्थिति को सुधारना चाहती थी, पर परिस्थिति सुधरने की जगह बिगड़ती गई थी। वह जो कुछ चाहती थी, वह मैं नहीं कर पाता था और जो कुछ मैं चाहता था, वह उससे नहीं होता था। इससे हममें अक्सर चख्-चख् होने लगती थी और कई बार दीवारों से सिर टकराने की नौबत आ जाती थी। मगर यह सब हो चुकने पर नलिनी बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाती थी और उसे फिर मुझसे यह शिकायत होती थी कि मैं दो-दो दिन अपने को उन साधारण घटनाओं के प्रभाव से मुक्त क्यों नहीं कर पाता था, मगर मैं दो-दो दिन क्या, कभी उन घटनाओं के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता था, और रात को जब वह सो जाती थी, तो घंटों तकिये में मुंह छिपाए कराहता रहता था। नलिनी आपसी झगड़े को उतना अस्वाभाविक नहीं समझती थी जितना मेरे रात-भर जागने को। और उसके लिए मुझे नर्व टानिक लेने की सलाह दिया करती थी। विवाह के पहले दो वर्ष इसी तरह बीते थे और उसके बाद हम अलग-अलग जगह काम करने लगे थे। हालांकि समस्या ज्यों की त्यों बनी थी, और जब भी हम इकट्ठे होते, वही पुरानी ज़िन्दगी लौट आती थी, फिर भी नलिनी का यह विश्वास अभी तक कम नहीं हुआ था कि कभी न कभी मेरे सामाजिक संस्कारों का उदय अवश्य होगा और तब हम साथ-साथ रहकर सुखी

विवाहित जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

"आप कुछ सोच रहे हैं?" उस स्त्री ने अपनी बच्ची के सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा।

मैंने सहसा अपने को सहेजा और कहा, "हां, मैं आप ही की बात को लेकर सोच रहा था। कुछ लोग होते हैं, जिनसे दिखावटी शिष्टाचार आसानी से नहीं ओढ़ा जाता। आप भी शायद उन्हीं लोगों में से हैं।"

"मैं नहीं जानती," वह बोली, "मगर इतना जानती हूं कि मैं बहुत-से परिचित लोगों के बीच अपने को अपरिचित, बेगाना और अनमेल अनुभव करती हूं। मुझे लगता है कि मुझमें ही कुछ कमी है। मैं इतनी बड़ी होकर भी वह कुछ नहीं जान-समझ पाई जो लोग छुटपन में ही सीख जाते हैं। दीशी का कहना है कि मैं सामाजिक दृष्टि से बिलकुल मिसफिट हूं।"

"आप भी यही समझती हैं?" मैंने पूछा।

"कभी समझती हूं, कभी नहीं भी समझती।" वह बोली, "एक खास तरह के समाज में मैं जरूर अपने को मिसफिट अनुभव करती हूं। मगर...कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके बीच जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। ब्याह से पहले मैं दो-एक बार कॉलेज की पार्टियों के साथ पहाड़ों पर घूमने के लिए गई थी। वहां सब लोगों को मुझसे यही शिकायत होती थी कि मैं जहां बैठ जाती हूं, वहीं की हो रहती हूं। मुझे पहाड़ी बच्चे बहुत अच्छे लगते थे। मैं उनके घर के लोगों से भी बहुत जल्दी दोस्ती कर लेती थी। एक पहाड़ी परिवार की मुझे आज तक याद है। उस परिवार के बच्चे मुझसे इतने घुल-मिल गए थे कि मैं बड़ी मुश्किल से उन्हें छोड़कर उनके यहां से चल पाई थी। मैं कुल दो घंटे उन लोगों के पास रही थी। दो घंटे में मैंने उन्हें नहलाया-धुलाया भी, और उनके साथ खेलती भी रही। बहुत ही अच्छे बच्चे थे वे। हाय, उनके चेहरे इतने लाल थे कि क्या कहूं! मैंने उनकी मां से कहा कि वह अपने छोटे लड़के किशनू को मेरे साथ भेज दे। वह हंसकर बोली कि तुम सभी को ले जाओ, यहां कौन इनके लिए मोती रखे हैं! यहां तो दो साल में इनकी हड्डियां निकल आएंगी, वहां खा-पीकर अच्छे तो रहेंगे। मुझे उसकी बात सुनकर रुलाई आने को हुई।... मैं अकेली होती, तो शायद कई दिनों के लिए उन लोगों के पास रह जाती। ऐसे लोगों में जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है।...अब तो आपको भी लग रहा

होगा कि कितनी अजीब हूं मैं ! ये कहा करते हैं कि मुझे किसी अच्छे मनोविद् से अपना विश्लेषण कराना चाहिए, नहीं तो किसी दिन मैं पागल होकर पहाड़ों पर भटकती फिरूंगी !"

'यह तो अपनी-अपनी बनावट की बात है।" मैंने कहा, "मुझे खुद आदिम संस्कारों के लोगों के बीच रहना बहुत अच्छा लगता है। मैं आज तक एक जगह घर बनाकर नहीं रह सका और न ही आशा है कि कभी रह सकूंगा। मुझे अपनी ज़िन्दगी की जो रात सबसे ज़्यादा याद आती है, वह रात मैंने पहाड़ी गूजरों की एक बस्ती में बिताई थी। उस रात उस बस्ती में एक ब्याह था, इसलिए सारी रात वे लोग शराब पीते और नाचते-गाते रहे। मुझे बहुत हैरानी हुई जब मुझे बताया गया कि वही गूजर दस-दस रुपये के लिए आदमी का खून भी कर देते हैं!"

"आपको सचमुच इस तरह की ज़िन्दगी अच्छी लगती है?" उसने कुछ आश्चर्य और अविश्वास के साथ पूछा।

"आपको शायद खुशी हो रही है कि पागल होने की उम्मीदवार आप अकेली ही नहीं हैं।" मैंने मुसकराकर कहा। वह भी मुसकराई। उसकी आंखें सहसा भावनापूर्ण हो उठीं। उस एक क्षण में मुझे उन आंखों में न जाने कितना कुछ दिखाई दिया—करुणा, क्षोभ, ममता, आर्द्रता, ग्लानि, भय, असमंजस और स्नेह! उसके होंठ कुछ कहने के लिए कांपे, लेकिन कांपकर ही रह गए। मैं भी चुपचाप उसे देखता रहा। कुछ क्षणों के लिए मुझे महसूस हुआ कि मेरा दिमाग बिलकुल खाली है और मुझे पता नहीं कि मैं क्या कह रहा था और आगे क्या कहना चाहता था। सहसा उसकी आंखों में फिर वही सूनापन भरने लगा और क्षण-भर में ही वह इतना बढ़ गया कि मैंने उसकी तरफ से आंखें हटा लीं।

बत्ती के पास उड़ता कीड़ा उसके साथ सटकर झुलस गया था।

बच्ची नींद में मुसकरा रही थी।

खिड़की के शीशे पर इतनी धुंध जम गई थी कि उसमें अपना चेहरा भी दिखाई नहीं देता था।

गाड़ी की रफ्तार धीमी हो रही थी। कोई स्टेशन आ रहा था। दो-एक बत्तियां तेज़ी से निकल गईं। मैंने खिड़की का शीशा उठा दिया। बाहर से आती बर्फानी हवा के स्पर्श ने स्नायुओं को थोड़ा सचेत कर दिया। गाड़ी एक बहुत

नीचे प्लेटफार्म के पास आकर खड़ी हो रही थी।

"यहीं कहीं थोड़ा पानी मिल जाएगा ?"

मैंने चौंककर देखा कि वह अपनी टोकरी में से कांच का गिलास निकालकर अनिश्चित भाव से हाथ में लिये है। उसके चेहरे की रेखाएं पहले से गहरी हो गई थीं।

"पानी आपको पीने के लिए चाहिए ?" मैंने पूछा।

"हां। कुल्ला करूंगी और पिऊंगी भी। न जाने क्यों होंठ कुछ चिपक से रहे हैं। बाहर इतनी ठंड है, फिर भी...।"

"देखता हूं, अगर यहां कोई नल-वल हो, तो...।"

मैंने गिलास उसके हाथ से लिया और जल्दी से प्लेटफार्म पर उतर गया। न जाने कितना मनहूस स्टेशन था कि कहीं भी कोई इन्सान नज़र नहीं आ रहा था। प्लेटफार्म पर पहुंचते ही हवा के झोंकों से हाथ-पैर सुन्न होने लगे। मैंने कोट के कालर ऊंचे कर लिए। प्लेटफार्म के जंगले के बाहर से फैलकर ऊपर आए दो-एक पेड़ हवा में सरसरा रहे थे। इंजन के भाप छोड़ने से लम्बी शूं-ऊं की आवाज़ सुनाई दे रही थी। शायद वहां गाड़ी सिग्नल न मिलने की वजह से रुक गई थी।

दूर कई डब्बे पीछे एक नल दिखाई दिया, तो मैं तेज़ी से उस तरफ चल दिया। ईंटों के प्लेटफार्म पर अपने जूते का शब्द मुझे बहुत अजीब-सा लगा। मैंने चलते-चलते गाड़ी की तरफ देखा। किसी खिड़की से कोई चेहरा बाहर नहीं झांक रहा था। मैं नल के पास जाकर गिलास में पानी भरने लगा। तभी हल्की-सी सीटी देकर गाड़ी एक झटके के साथ चल पड़ी। मैं भरा हुआ पानी का गिलास लिये अपने डब्बे की तरफ दौड़ा। दौड़ते हुए मुझे लगा कि मैं उस डब्बे तक नहीं पहुंच पाऊंगा और सर्दी में उस अंधेरे और सुनसान प्लेटफार्म पर ही मुझे बिना सामान के रात बितानी होगी। यह सोचकर मैं और तेज़ दौड़ने लगा। किसी तरह अपने डब्बे के बराबर पहुंच गया। दरवाज़ा खुला था और वह दरवाज़े के पास खड़ी थी। उसने हाथ बढ़ाकर गिलास मुझसे ले लिया। फुटबोर्ड पर चढ़ते हुए एक बार मेरा पैर ज़रा-सा फिसला, मगर अगले ही क्षण मैं स्थिर होकर खड़ा हो गया। इंजन तेज़ होने की कोशिश में हल्के-हल्के झटके दे रहा था और ईंटों के प्लेटफार्म की जगह अब नीचे अस्पष्ट गहराई

दिखाई देने लगी थी।

"अन्दर आ जाइए।···" उसके ये शब्द सुनकर मुझे एहसास हुआ कि मुझे फुट-बोर्ड से आगे भी कहीं जाना है। डब्बे के अन्दर कदम रखा तो मेरे घुटने ज़रा-ज़रा कांप रहे थे।

अपनी जगह पर आकर मैंने टांगें सीधी करके पीछे टेक लगा ली। कुछ पल बाद आंखें खोलीं तो लगा कि वह इस बीच मुंह धो आई है। फिर भी उसके चेहरे पर मुर्दनी-सी छा रही थी। मेरे होंठ सूख रहे थे, फिर भी मैं थोड़ा मुसकराया।

"क्या बात है आपका चेहरा ऐसा क्यों हो रहा है?" मैंने पूछा।

"मैं कितनी मनहूस हूं!···" कहकर उसने अपना निचला होंठ ज़रा-सा काट लिया।

"क्यों?"

"अभी मेरी वजह से आपको कुछ हो जाता···।"

"यह खूब सोचा आपने!"

"नहीं, मैं हूं ही ऐसी···" वह बोली, ज़िन्दगी में हर एक को दुःख ही दिया है। अगर कहीं आप न चढ़ पाते···।"

"तो?"

"तो?" उसने होंठ ज़रा सिकोड़े, "तो मुझे पता नहीं···पर ·।"

उसने खामोश रहकर आंखें झुका लीं। मैंने देखा कि उसकी सांस जल्दी-जल्दी चल रही है। महसूस किया कि वास्तविक संकट की अपेक्षा कल्पना का संकट कितना बड़ा और खतरनाक होता है। शीशा उठा रहने से खिड़की से ठंडी हवा आ रही थी। मैंने खींचकर शीशा नीचे कर दिया।

"आप क्यों गए थे पानी लाने के लिए? आपने मना क्यों नहीं कर दिया?" उसने पूछा।

उसके पूछने के लहजे से मुझको हंसी आ गई।

"आप ही ने तो कहा था···।" मैं बोला।

"मैं तो मूर्ख हूं, कुछ भी कह देती हूं। आपको तो सोचना चाहिए था।"

"अच्छा, मैं अपनी गलती मान लेता हूं।"

इससे उसके मुरझाए होंठों पर भी मुस्कराहट आ गई।

"आप भी कहेंगे, कैसी लड़की है!" उसने आन्तरिक भाव के साथ कहा, "सच कहती हूं, मुझे ज़रा अक्ल नहीं है। इतनी बड़ी हो गई हूं, पर अक्ल रत्ती-भर नहीं है—सच!"

मैं फिर हंस दिया।

"आप हंस क्यों रहे हैं?" उसके स्वर में फिर शिकायत का स्पर्श आ गया।

"मुझे हंसने की आदत है!" मैंने कहा।

"हंसना अच्छी आदत नहीं है।"

मुझे इसपर फिर हंसी आ गई।

वह शिकायत-भरी नज़र से मुझे देखती रही।

गाड़ी की रफ्तार फिर तेज़ हो गई थी। ऊपर की बर्थ पर लेटा आदमी सहसा हड़बड़ाकर उठ बैठा और ज़ोर-ज़ोर से खांसने लगा। खांसी का दौरा शान्त होने पर उसने कुछ पल छाती को हाथ से दबाए रखा, फिर भारी आवाज़ में पूछा, "क्या बजा है?"

"पौने बारह।" मैंने उसकी तरफ देखकर उत्तर दिया।

"कुल पौने बारह?" उसने निराश स्वर में कहा और फिर लेट गया। कुछ ही देर में वह फिर खुर्राटे भरने लगा।

"आप भी थोड़ी देर सो जाइए।" वह पीछे टेक लगाए शायद कुछ सोच रही थी या केवल देख रही थी।

"आपको नींद आ रही है, आप सो जाइए।" मैंने कहा।

"मैंने आपसे कहा था न, मुझे गाड़ी में नींद नहीं आती। आप सो जाइए।"

मैंने लेटकर कम्बल ले लिया। मेरी आंखें देर तक ऊपर की बत्ती को देखती रहीं जिसके साथ झुलसा हुआ कीड़ा चिपककर रह गया था।

"रज़ाई भी ले लीजिए। काफी ठंड है।" उसने कहा।

"नहीं, अभी ज़रूरत नहीं है। मैं बहुत-से गर्म कपड़े पहने हूं।"

"ले लीजिए, नहीं बाद में ठिठुरते रहिएगा।"

"नहीं, ठिठुरूंगा नहीं," मैंने कम्बल गले तक लपेटते हुए कहा, "और थोड़ी-थोड़ी ठंड महसूस होती रहे, तो अच्छा लगता है।"

"बत्ती बुझा दूं?" कुछ देर बाद उसने पूछा।

"नहीं, रहने दीजिए।"

"नहीं, बुझा देती हूं। ठीक से सो जाइए।" और उसने उठकर बत्ती बुझा दी। मैं काफी देर अंधेरे में छत की तरफ देखता रहा। फिर मुझे नींद आने लगी।

शायद रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी थी जब इंजन के भोंपू की आवाज़ से मेरी नींद खुली। वह आवाज़ कुछ ऐसी भारी थी कि मेरे सारे शरीर में एक झुरझुरी-सी भर गई। पिछले किसी स्टेशन पर इंजन बदल गया था।

गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी, तो मैंने सिर थोड़ा ऊंचा उठाया। सामने की सीट खाली थी। वह स्त्री न जाने किस स्टेशन पर उतर गई थी। इसी स्टेशन पर न उतरी हो, यह सोचकर मैंने खिड़की का शीशा उठा दिया और बाहर देखा। प्लेटफार्म बहुत पीछे रह गया था और बत्तियों की कतार के सिवा कुछ साफ दिखाई नहीं दे रहा था। मैंने शीशा फिर नीचे खींच लिया। अन्दर की बत्ती अब भी बुझी हुई थी। बिस्तर में नीचे को सरकते हुए मैंने देखा कि कम्बल के अलावा मैं अपनी रज़ाई भी लिए हूं जिसे अच्छी तरह कम्बल के साथ मिला दिया गया है। गर्मी की कई एक सिहरनें एकसाथ शरीर में भर गईं।

ऊपर की बर्थ पर लेटा आदमी अब भी उसी तरह ज़ोर-ज़ोर से खुर्राटे भर रहा था।

एक ठहरा हुआ चाकू

अजीब बात थी कि खुद कमरे में होते हुए भी बाशी को कमरा खाली लग रहा था।

उसे काफी देर हो गई थी कमरे में आए—या शायद उतनी देर नहीं हुई थी जितनी कि उसे लग रही थी। वक्त उसके लिए दो तरह से बीत रहा था—जल्दी भी और आहिस्ता भी···उसे, दरअसल, वक्त का ठीक अहसास हो नहीं रहा था।

कमरे में कुछ-एक कुर्सियां थीं—लकड़ी की। वैसी ही जैसी सब पुलिस स्टेशनों पर होती हैं। कुर्सियों के बीचोबीच एक मेज़नुमा तिपाई थी जो कि कुहनी ऊपर रखते ही झूलने लगती थी। आठ फुट और आठ फुट का वह कमरा इनसे पूरा घिरा था। टूटे पलस्तर की दीवारें कुर्सियों से लगभग सटी जान पड़ती थीं। शुक्र था कि कमरे में दरवाज़े के अलावा एक खिड़की भी थी।

बाहर अहाते में बार-बार चरमराते जूतों की आवाज़ सुनाई देती थी—यही वह सब-इन्सपेक्टर था जो उसे कमरे के अन्दर छोड़ गया था। उस आदमी का चेहरा आंखों से दूर होते ही भूल जाता था, पर सामने आने पर फिर एकाएक याद हो आता था। कल से आज तक वह कम से कम बीस बार उसे भूल चुका था।

उसने सुलगाने के लिए एक सिगरेट जेब से निकाला, पर यह देखकर कि उसके पैरों के पास पहले ही काफी टुकड़े जमा हो चुके हैं, उसे वापस जेब में रख लिया। कमरे में एक एश-ट्रे का न होना उसे शुरू से ही अखर रहा था।

इस वजह से वह एक भी सिगरेट आराम से नहीं पी सका था। पहला सिगरेट पीते हुए उसने सोचा था कि पीकर टुकड़ा खिड़की से बाहर फेंक देगा। पर उधर जाकर देखा कि खिड़की के ठीक नीचे एक चारपाई बिछी है जिसपर लेटे या बैठे हुए दो-एक कान्स्टेबल अपना आराम का वक्त बिता रहे हैं। उसके बाद फिर दूसरी बार वह खिड़की के पास नहीं गया।

अकेले कमरे में वक्त काटने के लिए सिगरेट पीने के अलावा भी जो कुछ किया जा सकता था, वह कर चुका था। जितनी कुर्सियां थीं, उनमें से हर एक पर एक-एक बार बैठ चुका था। उनके गिर्द चहलकदमी कर चुका था। दीवारों के पलस्तर दो-एक जगह से उखाड़ चुका था। मेज़ पर एक बार पेंसिल से और न जाने कितनी बार उंगली से अपना नाम लिख चुका था। एक ही काम था जो उसने नहीं किया था—वह था दीवार पर लगी क्वीन विक्टोरिया की तस्वीर को थोड़ा तिरछा कर देना। बाहर अहाते से लगातार जूते की चरमर सुनाई न दे रही होती, तो अब तक उसने यह भी कर दिया होता।

उसने अपनी नब्ज़ पर हाथ रखकर देखा कि बहुत तेज़ तो नहीं चल रही। फिर हाथ हटा लिया, कि कोई उसे ऐसा करते देख न ले।

उसे लग रहा था कि वह थक गया है और उसे नींद आ रही है। रात को ठीक से नींद नहीं आई थी। ठीक से क्या, शायद बिलकुल नहीं आई थी। या शायद नींद में भी उसे लगता रहा था कि वह जाग रहा है। उसने बहुत कोशिश की थी कि जागने की बात भूलकर किसी तरह सो सके—पर इस कोशिश में ही पूरी रात निकल गई थी।

उसने जेब से पेंसिल निकाल ली और बायें हाथ पर अपना नाम लिखने लगा—बाशी, बाशी, बाशी! सुभाष, सुभाष, सुभाष!

आज सुबह यह नाम प्रायः सभी अखबारों में छपा था। रोज के अखबार के अलावा उसने तीन-चार अखबार और खरीदे थे। किसीमें दो इंच में खबर दी गई थी, किसीमें दो कॉलम में। जिसने दो कॉलम में खबर दी थी वह रिपोर्टर उसका परिचित था। वह अगर उसका परिचित न होता, तो शायद···

वह अब अपनी हथेली पर दूसरा नाम लिखने लगा—वह नाम जो उसके नाम के साथ-साथ अखबारों में छपा था—नत्थासिंह, नत्थासिंह, नत्थासिंह!

यह नाम लिखते हुए उसकी हथेली पर पसीना आ गया। उसने पेंसिल

रखकर हथेली को मेज़ से पोंछ लिया।

जूते की चरमर दरवाज़े के पास आ गई। सब-इन्सपेक्टर ने एक बार अन्दर झांककर पूछ लिया, "आपको किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं ?"

"नहीं।" उसने सिर हिला दिया। उसे तब एश-ट्रे का ध्यान नहीं आया।

"पानी-आनी की ज़रूरत हो, तो मांग लीजिएगा।"

उसने फिर सिर हिला दिया कि ज़रूरत होगी, तो मांग लेगा। साथ पूछ लिया, "अभी और कितनी देर लगेगी ?"

"अब ज़्यादा देर नहीं लगेगी।" सब-इन्सपेक्टर ने दरवाज़े के पास से हटते हुए कहा, "पन्द्रह-बीस मिनट में ही उसे ले आएंगे।"

इतना ही वक्त उसे तब भी बताया गया था जब उसे उस कमरे में छोड़ा गया था। तब से अब तक क्या कुछ भी वक्त नहीं बीता था ?

जूते के अन्दर, दायें पैर के तलवे में खुजली हो रही थी। जूता खोलकर एक बार अच्छी तरह खुजला लेने की बात वह कितनी बार सोच चुका था। पर हाथ दो-एक बार नीचे झुकाकर भी उससे तस्मा खोलते नहीं बना था। उस पैर को दूसरे पैर से दबाए वह जूते को रगड़कर रह गया।

हाथ की पेंसिल फिर चल रही थी। उसने अपनी हथेली को देखा। दोनों नामों के ऊपर उसने बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया था—अगर···

अगर···

अगर कल सुबह वह स्कूटर की बजाय बस से आया होता···

अगर बर्फ खरीदने के लिए उसने स्कूटर को दायरे के पास न रोका होता···

अगर···

उसने जूते को फिर ज़मीन पर रगड़ लिया। मन में मिन्नी का चेहरा उभर आया। अगर वह कल मिन्नी से न मिला होता···।

वह, जो कभी सुबह नौ बजे से पहले नहीं उठता था, सिर्फ मिन्नी की वजह से उन दिनों सुबह छह बजे तैयार होकर घर से निकल जाता था। मिन्नी ने मिलने की जगह भी क्या बताई थी—अजमेरी गेट के अन्दर हलवाई की एक दुकान! जिस प्राइवेट कालेज में वह पढ़ने आती थी, उसके नज़दीक बैठने लायक और कोई जगह थी ही नहीं। एक दिन वह उसे जामा मस्जिद ले गया था—कि कुछ देर वहां के किसी होटल में बैठेंगे। पर उतनी सुबह किसी होटल का

दरवाज़ा नहीं खुला था। आखिर मेहतरों की उड़ाई धूल से सिर-मुंह बचाते वे उसी दुकान पर लौट आए थे। दुकान के अन्दर पन्द्रह-बीस मेज़ें लगी रहती थीं। सुबह-सुबह लस्सी-पूरी का नाश्ता करने वाले लोग वहां जमा हो जाते थे। उनमें से बहुत-से तो उन्हें पहचानने भी लगे थे—क्योंकि वे रोज़ कोने की मेज़ के पास घण्टा-घण्टा-भर बैठे रहते हैं। मिन्नी अपने लिए सिर्फ कोकाकोला की बोतल मंगवाकर सामने रख लेती थी—पीती उसे भी नहीं थी। लस्सी-पूरी का ऑर्डर उसे अपने लिए देना पड़ता था। जल्दी-जल्दी खाने की आदत होने से सामने का पत्ता दो मिनट में ही साफ हो जाता था। मिन्नी कई बार दो-दो पीरियड मिस कर देती थी, इसलिए वहां बैठने के लिए उसे और-और पूरी मंगवाकर खाते रहना पड़ता था। उससे सुबह-सुबह उतना नाश्ता नहीं खाया जाता था, पर चुपचाप कौर निगलते जाने के सिवा और कोई चारा नहीं होता था। मिन्नी देखती कि खा-खाकर उसकी हालत खस्ता हो रही है, तो कहती कि चलो, कुछ देर पास की गलियों में टहल लिया जाए। सड़क पर वे नहीं टहल सकते थे, क्योंकि वहां कालेज की और लड़कियां आती-जाती मिल जाती थीं। हलवाई की दुकान के साथ से गली अन्दर को मुड़ती थी—उससे आगे गलियों की लम्बी भूलभुलैया थी, जिनमें से किसी भी तरफ को निकल जाते थे। जब चलते-चलते सामने सड़क का मुहाना नज़र आ जाता, तो वे वहीं से लौट पड़ते थे।

"इस इतवार को कोई देखने आने वाला है।" उस दिन मिन्नी ने कहा था।

"कौन आने वाला है ?"

"कोई है—काठमाण्डू से आया है। दस दिन में शादी करके लौट जाना चाहता है।"

"फिर ?"

"फिर कुछ नहीं। आएगा, तो मैं उससे साफ-साफ सब कह दूंगी।"

"क्या कह दोगी ?"

"यह क्यों पूछते हो ? तुम्हें पूछने की ज़रूरत नहीं है।"

"अगर उस वक्त तुम्हारी ज़बान न खुल सकी, तो ?"

"तो समझ लेना कि ऐसे ही बेकार की लड़की थी···इस लायक थी ही नहीं कि तुम उससे किसी तरह की रहो-रस्त रखते।"

"पर तुमने पहले ही घर में क्यों नहीं कह दिया ?"

"यह तुम जानते हो कि मैंने नहीं कहा ?" कहते हुए मिन्नी ने उसकी उंगलियां अपनी उंगलियों में ले ली थीं। "अभी तो तुम दूसरे के घर में रहते हो। जब तुम अपना घर ले लोगे, तो मैं···तब तक मैं ग्रेजुएट भी हो जाऊंगी।"

एक बहते नल का पानी गली में यहां से वहां तक फैला था। बचने की कोशिश करने पर भी दोनों के जूते कीचड़ में लथपथ हो गए थे। एक जगह उसका पांव फिसलने लगा तो मिन्नी ने बांह से पकड़कर उसे संभाल लिया। कहा, "ठीक से देखकर नहीं चलते न ! पता नहीं, अकेले रहकर कैसी अपनी देख-भाल करते हो !"

अगर···

अगर मिन्नी ने यह न कहा होता, तो वह उतना खुश-खुश न लौटता। उस हालत में ज़रूर स्कूटर के पैसे बचाकर बस में आया होता।

अगर घर के पास के दायरे में पहुंचने तक उसे प्यास न लग आई होती···

उसने स्कूटर को वहां रोक लिया था—कि दस पैसे की बर्फ खरीद ले। महीना जुलाई का था, फिर उसे भी दिन-भर प्यास लगती थी। दिन में कई-कई बार वह बर्फ खरीदने वहां आता था। दुकानदार उसे दूर से देखकर ही पेटी खोल लेता था और बर्फ तोड़ने लगता था।

पर तब तक अभी बर्फ की दुकान खुली नहीं थी।

बर्फ खरीदने के लिए उसने जो पैसे जेब से निकाले थे, उन्हें हाथ में लिए वह लौटकर स्कूटर के पास आया, तो एक और आदमी उसमें बैठ चुका था। वह पास पहुंचा, तो स्कूटरवाले ने उसकी तरफ हाथ बढ़ा दिया—जैसे कि वहां उतरकर वह स्कूटर खाली कर चुका हो।

"स्कूटर अभी खाली नहीं है।" उसने स्कूटरवाले से न कहकर अन्दर बैठे आदमी से कहा।

"खाली नहीं से मतलब ?" उस आदमी का चेहरा सहसा तमतमा उठा। वह एक लम्बा-तगड़ा सरदार था—लुंगी के साथ एक मखमल का कुरता पहने। लम्बा शायद उतना नहीं था, पर तगड़ा होने से लम्बा भी लग रहा था।

"मतलब कि मैंने अभी इसे खाली नहीं किया है।"

"खाली नहीं किया है तो मैं अभी कराऊं तुझसे खाली ?" कहते हुए सरदार ने दांत भीच लिए। "जल्दी से उसके पैसे दे, और अपना रास्ता देख, वरना…!"

"वरना क्या होगा ?"

"बताऊं तुझे क्या होगा ?" कहते हुए सरदार ने उसे कॉलर से पकड़कर अपनी तरफ खींच लिया और उसके मुंह पर एक झापड़ दे मारा—"यह होगा ! अब आया समझ में ? दे जल्दी से उसके पैसे और दफा हो यहां से।"

उसका खून खौल गया कि एक आदमी, जिसे कि वह जानता तक नहीं, भरे बाज़ार में उसके मुंह पर थप्पड़ मारकर उससे दफा होने को कह रहा है। उसका चश्मा नीचे गिर गया था। उसे ढूंढ़ते हुए उसने कहा, "सरदार, ज़रा ज़बान संभालकर बात कर !"

"क्या कहा ? ज़बान संभालकर बात करूं ? हरामज़ादे, तुझे पता है, मैं कौन हूं ?" जब तक उसने आंखों पर चश्मा लगाया, सरदार स्कूटर से नीचे उतर आया था। उसका एक हाथ कुरते की जेब में था।

"तू जो भी है, इस तरह की बदतमीज़ी करने का तुझे कोई हक नहीं !" कहते-न-कहते उसने देखा कि सरदार की जेब से निकलकर एक चाकू उसके सामने खुल गया है। "तू अगर समझता है कि…" यह वाक्य वह पूरा नहीं कर पाया। खुले चाकू की चमक से उसकी ज़बान और छाती सहसा जकड़ गई। उसके हाथ से पैसे वहीं गिर गए और वह वहां से भाग खड़ा हुआ।

"ठहर, मादर…अब जा कहां रहा है ?" उसने पीछे से सुना।

"पैसे, साहब ?" यह आवाज़ स्कूटरवाले की थी।

उसने जेब में हाथ डाला और जितने सिक्के हाथ में आए निकालकर सड़क पर फेंक दिए। पीछे मुड़कर नहीं देखा। घर की गली बिलकुल सामने थी, पर उस तरफ न जाकर वह जाने किस तरफ को मुड़ गया। कहां तक और कितनी देर तक भागता रहा, इसका उसे होश नहीं रहा। जब होश हुआ, तो वह एक अपरिचित मकान के ज़ीने में खड़ा हांफ रहा था।…

उसने पेंसिल हाथ में रख दी और हथेली पर बने शब्दों को अंगूठे से मल दिया। तब तक न जाने कितने शब्द और वहां लिखे गए थे जो पढ़े भी नहीं जाते थे। सब मिलाकर आड़ी-तिरछी लकीरों का एक गुंझल था जो मल दिए जाने पर भी पूरी तरह मिटा नहीं था। हथेली सामने किए वह कुछ देर तक

उस अधबुझे गुंझल को देखता रहा। हर लकीर का नोक-नुक्ता कहीं से वाकी था। उसने सोचा कि वहां कहीं एक वाश-वेसिन होता, तो वह दोनों हाथों को अच्छी तरह मलकर धो लेता।

"हलो !…"

उसने सिर उठाकर देखा। महेन्द्र, जिसके यहां वह रहता था, और वह रिपोर्टर जिसने दो कॉलम में खवर दी थी, उसके सामने खड़े थे। सव-इन्सपेक्टर के जूते की चरमर दरवाजे से दूर जा रही थी।

"तुम इस तरह बुझे-से क्यों वैठे हो ?" महेन्द्र ने पूछा।

"नहीं तो…" उसने कहा और मुसकराने की कोशिश की।

"ये लोग उसे लॉक-अप से यहां ले आए हैं। अली थोड़ी देर में उसे शनाख्त के लिए इधर लाएंगे।"

उसने सिर हिलाया। वह अव भी वाश-वेसिन की वात सोच रहा था।

"थानेदार वता रहा था कि सुवह-सुवह उसके घर जाकर इन्होंने उसे पकड़ा है। ये लोग कव से इसके पीछे थे, पर पकड़ने का कोई मौका इन्हें नहीं मिल रहा था। कोई भला आदमी उसकी रिपोर्ट ही नहीं करता था।"

उसने अव फिर मुसकराने की कोशिश की। पेंसिल उसने मेज़ से उठाकर जेव में डाल ली।

"मैं आज फिर अखवार में उसकी खवर दूंगा।" रिपोर्टर वोला, "जव तक इस आदमी को सज़ा नहीं हो जाती, हम इसका पीछा नहीं छोड़ेंगे।"

उसे लगा कि उसके कान गरम हो रहे हैं। उसने हल्के-से एक कान को सहला लिया।

"तय हुआ है," महेन्द्र ने कहा, "कि उसे साथ लिए हुए चार सिपाही अहाते में दाईं तरफ से आएंगे और वाईं तरफ से निकल जाएंगे। उसे यह पता नहीं चलने दिया जाएगा कि तुम यहां हो। तुम यहां वैठे-वैठे उसे देख लेना और वाद में वता देना कि हां, यही आदमी है, जिसने तुमपर चाकू चलाना चाहा था। वह थानेदार के सामने इतना तो मान गया है कि कल उसने स्कूटर को लेकर झगड़ा किया था, पर चाकू निकालने की वात नहीं माना। कहता है कि चाकू-आकू तो उसके पास होता ही नहीं—उसके दुश्मनों ने खामखाह उसे फंसाने के लिए रिपोर्ट लिखवा दी है। यह भी कह रहा था कि वह तो अब

इस इलाके में रहना नहीं चाहता—दो-एक मुकदमों का फैसला हो जाए, तो तो वह इस इलाके से चला जाएगा।"

वह कुछ देर क्वीन विक्टोरिया की तस्वीर को देखता रहा। फिर अपनी उंगलियों को मलता हुआ आहिस्ता-से बोला, "मेरा खयाल है, हमें रिपोर्ट नहीं लिखवानी चाहिए थी।"

"तुम फिर वही बुज़दिली की बात कर रहे हो?" महेन्द्र थोड़ा तेज़ हुआ, "तुम चाहते हो कि ऐसे आदमी को गुण्डागर्दी की खुली छूट मिली रहे?"

उसकी आंखें तस्वीर से हटकर पल-भर महेन्द्र के चेहरे पर टिकी रहीं। उसे लगा कि जो बात वह कहना चाहता है, वह शब्दों में नहीं कही जा सकती।

"आपको डर लग रहा है?" रिपोर्टर ने पूछा।

"बात डर की नहीं···।"

"तो और क्या बात है?" महेन्द्र फिर बोल उठा, "तुम कल भी कम्प्लेंट लिखवाने में आनाकानी कर रहे थे।···"

"मैंने यह बात भी अपनी रिपोर्ट में लिखी है।" रिपोर्टर ने कहा और एक सिगरेट सुलगा ली।

"खैर, रिपोर्ट तो अब हो गई है और उस आदमी को गिरफ्तार भी कर लिया गया है।" महेन्द्र बोला, "तुम्हें डरना नहीं चाहिए। इतने लोग तुम्हारे साथ हैं।"

"मैं समझता हूं कि गुण्डागर्दी को रोकने में आदमी की जान भी चली जाए, तो उसे परवाह नहीं करनी चाहिए।" रिपोर्टर ने कश खींचते हुए कहा, "इन लोगों के हौसले इतने बढ़ते जा रहे हैं कि ये किसीको कुछ समझते ही नहीं। पिछले दो साल में ही गुण्डागर्दी की घटनाएं पहले से पौने तीन गुना हो गई हैं—यानी पहले से एक सौ पचहत्तर फीसदी ज़्यादा। अगर अब भी इनकी रोकथाम न की गई, तो पांच साल में आदमी के लिए घर से निकलना मुश्किल हो जाएगा।"

रिपोर्टर के सिगरेट की राख उसके घुटने पर आ गिरी। उसने हल्के-से उसे झाड़ दिया और बाहर की तरफ देखने लगा।

"ये लोग अब उसके घर चाकू तलाश करने गए हैं।" महेन्द्र दोनों जेबों में हाथ डाले चलने के लिए तैयार होकर बोला, "हो सकता है, तुमसे चाकू की

शनाख्त के लिए भी कहा जाए।"

"चाकू की शनाख्त कैसे होगी ?" उसने उसी स्वर में पूछ लिया।

"कैसे होगी ?" महेन्द्र फिर उत्तेजित हो उठा, "देखकर कह देना होगा कि हां, यही चाकू है—और शनाख्त कैसे होती है ?"

"पर मैंने चाकू ठीक से देखा नहीं था।"

"नहीं देखा था, तो अब देख लेना। हम थोड़ी देर में फोन करके यहां से पता कर लेंगे। तुम यहां से निकलकर सीधे घर चले जाना और रात को लौटने तक घर पर ही रहना।"

वे लोग चले गए, तो कमरा उसे फिर खाली लगने लगा—बिलकुल खाली—जिसमें वह खुद भी जैसे नहीं था। सिर्फ कुरसियां थीं, दीवारें थीं, और एक खुला दरवाज़ा था।...बाहर जूते की चरमर अब सुनाई नहीं दे रही थी।

"सुनो..." उसे लगा जैसे उसने मिन्नी की आवाज़ सुनी हो। उसने आस-पास देखा। कोई भी वहां नहीं था। सिर्फ सिर के ऊपर घूमता पंखा आवाज़ कर रहा था। उसे हैरानी हुई कि अब तक उसे इस आवाज़ का पता क्यों नहीं चला। उसे तो इतना अहसास भी नहीं था कि कमरे में एक पंखा भी है।

सिर कुरसी की पीठ से टिकाए वह पंखे की तरफ देखने लगा—उसकी तेज़ रफ्तार में अलग-अलग परों को पहचानने की कोशिश करने लगा। उसे खयाल आया कि उसके सिर के बाल बुरी तरह उलझे हैं और वह सुबह से नहाया नहीं है। आज सुबह से ही नहीं, कल सुबह से।...

कल दिन-भर वे लोग स्कूटरों और टैक्सियों में घूमते रहे थे। वह और महेन्द्र। घर पहुंचकर उसने महेन्द्र को उस घटना के बारे में बतलाया, तो वह तुरन्त ही उस सम्बन्ध में 'कुछ करने' को उतावला हो उठा था। पहले उन्होंने दायरे के पास जाकर पूछ-ताछ की। वहां कोई भी कुछ बतलाने को तैयार नहीं था। जो मोची दायरे के पास बैठा था, वह सिर झुकाए चुपचाप हाथ के जूते को सीता रहा। उसने कहा कि वह घटना के समय वहां नहीं था—नल पर पानी पीने गया था। और भी जिस-जिससे पूछा उसने सिर हिलाकर मना कर दिया कि वह उस आदमी के बारे में कुछ नहीं जानता। सिर्फ मेडिकल स्टोर के इंचार्ज ने दबी आवाज़ में कहा, "नत्थासिंह को यहां कौन नहीं जानता ? अभी कुछ ही दिन पहले उसके आदमियों ने पिछली गली में एक पानवाले का कत्ल किया है।

वे तीन-चार भाई हैं और इस इलाके के माने हुए गुण्डे हैं। खैरियत समझिए कि आपकी जान बच गई, वरना हममें से तो किसी को इसकी उम्मीद नहीं रही थी। अब बेहतरी इसी में है कि आप इस चीज़ को चुपचाप पी जाएं और बात को ज़्यादा बिखरने न दें। यहां आपको एक भी आदमी ऐसा नहीं मिलेगा, जो उसके खिलाफ गवाही देने को तैयार हो। अगर आप पुलिस में रिपोर्ट करें और पुलिस यहां तहकीकात के लिए आए, तो सब लोग साफ मुकर जायेंगे कि यहां पर ऐसा कुछ हुआ ही नहीं।"

पर महेन्द्र का कहना था कि रिपोर्ट ज़रूर करेंगे—ऐसे आदमी को सज़ा दिलवाए बगैर नहीं छोड़ा जा सकता।

थानेदार से बात करने पर उसने कहा, "हां-हां, रिपोर्ट आपको ज़रूर लिखवानी चाहिए। इन गुण्डों से मत्था लेने में यूं थोड़ा-बहुत खतरा तो रहता ही है—और कुछ न करें, आप पर एसिड-वेसिड ही डाल दें। ऐसा उन्होंने दो-एक बार किया भी है। पर हम आपकी हिफाजत के लिए हैं, आपको डरना नहीं चाहिए। एक अच्छे शहरी होने के नाते आपका फर्ज़ है कि आप रिपोर्ट ज़रूर लिखवाएं। हम लोगों को भी तो उनके खिलाफ कार्रवाई करने का मौका इसी तरह मिल सकता है।"

रिपोर्ट लिखवाने के बाद वे लोग अखबारों के दफ्तरों में गए—एस० पी० और डी० एस० पी० से मिले। उस दौरान कई बातों का पता चला कि उस आदमी का मुख्य धन्धा लड़कियों की दलाली करना है—कि ऊंचे सरकारी और राज-नीतिक हलके के अमुक-अमुक व्यक्तियों को वह लड़कियां सप्लाई करता है—कि उसकी कितनी भी रिपोर्ट की जाएं, कभी उसके खिलाफ कार्रवाई नहीं की जाती—कि नीचे से अमुक-अमुक लोग उससे पैसे खाते हैं—कि नीचे से कार्रवाई कर भी दी जाए, तो ऊपर से अमुक-अमुक का फोन आ जाता है जिससे कार्रवाई वापस ले ली जाती है।...

"वह तो बेचारा सिर्फ दलाली करता है!" डी० एस० पी ने ज़रूरी फाइलों पर दस्तखत करते हुए कहा, "कत्ल-अत्ल करने का उसका हौसला नहीं पड़ सकता। हम उसके खिलाफ कार्रवाई करेंगे—आपको डरना बिल्कुल नहीं चाहिए।"

अखबारों के चीफ क्राइम रिपोर्टर ने तीसहज़ारी कैण्टीन की ठण्डी चाय के

लिए छोकरे को डांट-फटकार करते हुए सलाह दी, "आप पहला काम यही कीजिए कि जाकर अपनी रिपोर्ट वापस ले लीजिए। थानेदार मेरा वाकिफ है, आप चाहें तो उससे मेरा नाम ले सकते हैं—कि पंडित माधोप्रसाद ने यह राय दी है। वह अकेला नहीं है, एक बहुत बड़ा गिरोह उसके साथ है। हम लोग इनसे उलझ लेते हैं क्योंकि एक तो हम इन सब को पहचानते हैं और दूसरे हिफाज़त के लिए रिवॉल्वर-आल्वर अपने साथ रखते हैं। ये भी जानते हैं कि जितने बड़े गुण्डे ये दूसरों के लिए हैं, उतने ही बड़े गुण्डे हम इनके लिए हैं। इसलिए हमसे डरते भी हैं। पर आप जैसे आदमी को तो ये एक दिन में साफ कर देंगे—आपको इनसे बचकर रहना चाहिए।..."

अपनी अनेक राजनीतिक व्यस्तताओं से समय निकालकर उस विभाग के मन्त्री ने भी अपने लान में चहलकदमी करते हुए शाम को एक मिनट उनसे बात की। छूटते ही पूछा, "किस चीज की अदावत थी तुम लोगों में ?"

"अदावत का तो कोई सवाल नहीं था..." वह जल्दी-जल्दी कहने लगा, "मैं सुबह स्कूटर में घर की तरफ आ रहा था।..."

"तुम अपनी शिकायत एक कागज़ पर लिखकर सेक्रेटरी को दे दो।" उन्होंने बीच में ही कहा, "उसपर जो कार्रवाई करनी होगी, कर दी जाएगी।" और वे लान में खड़े दूसरे ग्रुप की तरफ मुड़ गए।

रात को घर लौटने पर उसे अपने हाथ-पैर ठण्डे लग रहे थे। पर महेन्द्र का उत्साह कम नहीं हुआ था। वह आधी रात तक इधर-उधर फोन करके तरह-तरह के आंकड़े जमा करता रहा। "उसे कम से कम तीन साल की सज़ा होनी चाहिए!" उसने सोने से पहले आंकड़ों के आधार पर निष्कर्ष निकाल लिया।

महेन्द्र के सो जाने के बाद वह काफी देर साथ के कमरे से आती सांसों की आवाज़ सुनता रहा था—उस आवाज़ में उतनी सुरक्षा का अहसास उसे पहले कभी नहीं हुआ था। वह आवाज़—एक जीवित आवाज़—उसके बहुत पास थी और लगातार चल रही थी। जितनी जीवित वह आवाज़ थी उतना ही जीवित था उसे सुन सकना—चुपचाप लेटे हुए, बिना किसी कोशिश के अपने कानों से सुन सकना। गरमी और उमस के बावजूद रात ठंडी थी—कुछ देर पहले से हल्की-हल्की बूंदें पड़ने लगी थीं। कभी-कभी उसे सन्देह होता कि जो आवाज़ वह सुन रहा है, वह रात की ही तो आवाज़ नहीं—सिर्फ पत्तों के हिलने और बूंदों के

गिरने की आवाज़—कि सुनना भी कहीं सुनना न होकर अपने से बाहर का कोरा शब्द ही तो नहीं। तब वह करवट बदलकर अपने हाथ-पैरों का 'होना' महसूस करता और फिर से सांसों का शब्द सुनने लगता।...

खिड़की से कभी-कभी हवा का झोंका आता जिससे रोंगटे सिहर जाते थे। उस सिहरन में हवा के स्पर्श के अतिरिक्त भी कुछ होता—शायद रोंगटों में अपने अस्तित्व की अनुभूति। एक झोंके के बीत जाने पर वह दूसरे की प्रतीक्षा करता, जिससे कि फिर से उस स्पर्श और सिहरन को अपने में महसूस कर सके। उस सिहरन के बाद उसे अपना हाथ खाली-खाली-सा लगता। मन होता कि हाथ में कसने के लिए एक और हाथ उसके पास हो—मिन्नी की पतली और चुभती उंगलियों वाला हाथ! कि हाथ के अलावा मिन्नी का पूरा शरीर भी पास में हो—इकहरा, पर भरा हुआ शरीर—जिसके एक-एक हिस्से से अपने सिर और होंठों को रगड़ता हुआ वह अपने नाक-कान-गालों से उसकी सांसों का शब्द और उतार-चढ़ाव महसूस कर सके। पर मिन्नी वहां नहीं थी—और उसके हाथ ही नहीं, पूरा अपना-आप खाली था। उसकी आंखें दर्द कर रही थीं और कनपटियों की नसें फड़क रही थीं। अगर वह रात रात न होकर सुबह होती—एक दिन पहले की सुबह—वह अभी मिन्नी से बात करके उससे अलग न हुआ होता, और स्टैंड पर आकर अभी स्कूटर में न बैठा होता।...

कोई चीज़ हलक में चुभ रही थी—एक नोक की तरह। वह बार-बार थूक निगलकर उस चुभन को मिटा लेना चाहता। कभी-कभी उसे लगता कि किसी हाथ ने उसका गला दबोच रखा है और यह चुभन गले पर कसते नाखूनों की है। तब वह जैसे अपने को उन हाथों से छुड़ाने के लिए छटपटाने लगता। उसे अपने अन्दर से एक हौलनाक-सी आवाज़ सुनाई देती—अपनी तेज़ चलती सांसों की आवाज़। रात तब दिन में और कमरा सड़क में घुल-मिल जाता और वह अपने को फूली सांस और अकड़ी पिण्डलियों से बेतहाशा सड़क पर भागते पाता। सड़क है—सिर्फ सलेटी सड़क—जिसका कोलतार जहां-तहां से पिघल रहा है। उसपर जैसे उससे आगे-आगे, दो पैर हैं—उसके अपने पैर। जूते के फीते खुले हैं। पतलून के पायंचे जूते में अटक-अटक जाते हैं। पर वह सरपट भाग रहा है—जैसे जूते और पायंचों के ऊपर-ऊपर से। आगे एक-दूसरे में गड्मड मकान हैं, नालियां हैं, लोग हैं। सब उसके रास्ते में हैं—पर कोई भी, कुछ भी,

उसके रास्ते में नहीं है। सिर्फ सड़क है, वह है, और भागना है।···

आंख खुल जाती, तो बाहर बिजली चमकती दिखाई देती। फिर मुंद जाती, तो कोई चीज़ अन्दर कौंधने लगती।···एक ज़ीने की सीढ़ियों ने उसे रस्सियों की तरह लपेट रखा है। एक तेज़ धार का चाकू उन रस्सियों को काटता आता है। उसके पास आने से पहले ही उसकी धार जैसे शरीर में चुभने लगती है। यह उसकी पीठ है···पीठ नहीं, छाती है। चाकू की नोक सीधी उसकी छाती की तरफ ··नहीं, गले की तरफ···आ रही है। वह उस नोक से बचने के लिए अपना सिर पीछे हटा रहा है···पर पीछे आसमान नहीं, दीवार है। वह कोशिश कर रहा है। वह कोशिश कर रहा है कि उसका सिर दीवार में गड़ जाए···दीवार के अन्दर छिप जाए। पर दीवार दीवार नहीं, रस्सियों का जाल है, और जाल के उस तरफ फिर वही चाकू की नोक है। जाल टूट रहा है। सीढ़ियां पैरों के नीचे से फिसल रही हैं। क्या वह किसी तरह सीढ़ियों में—रस्सियों में—उलझा रहकर अपने को नहीं बचा सकता ?

आंख फिर खुल जाती, तो उसे तेज़ प्यास महसूस होती। पर जब तक वह उठने और पानी पीने की बात सोचता, तब तक आंख फिर झपक जाती।

चाप् चाप् चाप् !···

जूते की आवाज़ फिर दरवाज़े के पास आ गई। वह कुरसी पर सीधा हो गया।

"आप तैयार हैं ?" सब-इन्स्पेक्टर ने अन्दर आकर पूछा।

उसने सिर हिलाया। उसे लग रहा था कि रात से अब तक उसने पानी पिया ही नहीं।

"तो अपनी कुरसी ज़रा तिरछी कर लीजिए और बाहर की तरफ देखते रहिए। हम लोग अभी उसे लेकर आ रहे हैं।" कहकर सब-इन्स्पेक्टर चला गया।

चाप् चाप् चाप् !···

उसे लगा कि उसके हाथों की उंगलियां कांप रही हैं—ऐसे जैसे वे हाथों से ठीक से जुड़ी न हों।

साथ के कमरे में एक आदमी रो रहा था—धौल-धप्पे से कोई चीज़ उससे कबूलवाई जा रही थी।

क्वीन विक्टोरिया की तस्वीर जैसे दीवार से थोड़ा आगे को हट आई थी—

उसके और ज़मीन के बीच का फासला भी अब पहले जितना नहीं लग रहा था।

चाप् चाप् चाप् !—यह कई पैरों की मिली-जुली आवाज़ थी। साथ के कमरे में पिटाई चल रही थी : "बोल हरामज़ादे, तू किस रास्ते से घुसा था घर के अन्दर ?" और इसके जवाब में आती आवाज : "नहीं, मैं नहीं घुसा था। मैं तो उस घर की तरफ गया भी नहीं था।…"

चार सिपाही कमरे के बाहर आ गए थे और उनके बीच था वही सरदार—उसी तरह लुंगी के साथ मखमल का लम्बा कुरता पहने। हथकड़ी के बावजूद उसके हाथ बंधे हुए नहीं लग रहे थे।

पल-भर के लिए बाशी को लगा जैसे उसे उस आदमी का नाम भूल गया हो। कल दिन में कितनी ही बार, कितने ही लोगों के मुंह से, वह नाम सुना था। जिस किसी से बात हुई थी, वह उस आदमी को पहले से ही जानता था। अभी कुछ ही देर पहले उसने वह नाम अपनी हथेली पर लिखा था। क्या नाम था वह ?

दरवाज़े के पास आकर वे लोग रुक गए थे—जैसे किसी चीज़ का पता करने के लिए। थानेदार और सब-इन्स्पेक्टर में से कोई उनके साथ नहीं था।

"कहां चलना है ? इस तरफ ?" कहता हुआ सरदार उसी दरवाज़े की तरफ बढ़ आया। अब वे दोनों आमने-सामने थे। चारों सिपाही पीछे चुपचाप खड़े थे।

बाशी को अचानक उसका नाम याद हो आया। नत्थासिंह ! सुबह प्रायः सभी अखबारों में यह नाम पढ़ा था। तब उसे आदमी की सूरत याद नहीं आ रही थी। सोच रहा था कि उसे देखकर पहचान भी पाएगा या नहीं। पर अब वह सामने था, तो उसकी सूरत बहुत पहचानी हुई लग रही थी। जैसे कि वह उसे एक मुद्दत से जानता हो।

वह आदमी सीधी नजर से उसकी तरफ देख रहा था—जैसे कि उसका चेहरा आंखों में बिठा लेना चाहता हो। पर बाशी अपनी आंखें हटाकर दूसरी तरफ देखने की कोशिश कर रहा था—खिड़की की तरफ। खिड़की के बाहर पेड़ के पत्ते हिल रहे थे। पेड़ की डाल पर एक कौआ पंख फड़फड़ा रहा था।

वह एक लम्बा वक्फा था—खामोश वक्फा—जिसमें कि उसके कान ही नहीं, गाल भी दहकने लगे। पैर में तेज़ खुजली उठ रही थी, फिर भी

उसे दूसरे पैर से दबाया नहीं। उसकी आंखें खिड़की से हटकर ज़मीन में धंस गई और तब तक धंसी रहीं जब तक कि वह वक्फा गुज़र नहीं गया। उन लोगों के चले जाने के कई क्षण बाद उसने आंखें दरवाज़े की तरफ मोड़ीं। तब थानेदार अहाते में खड़ा सब-इन्स्पेक्टर को डांट रहा था, "मैंने तुमसे कहा नहीं था कि उसे यहां रोकना नहीं, चुपचाप दरवाज़े के पास से निकालकर ले जाना?"

सब-इन्स्पेक्टर अपनी सफाई दे रहा था कि कसूर उसका नहीं, सिपाहियों का है—उन लोगों ने, लगता है, बात ठीक से समझी नहीं।

थानेदार माफी मांगता हुआ उसके पास आया, और आश्वासन देकर कि उसे फिर भी डरना नहीं चाहिए, वे लोग उसकी हिफाजत करेंगे, बोला, "उसे पहचान लिया है न आपने? यही आदमी था न जिसने आपपर चाकू चलाना चाहा था?"

बाशी कुरसी से उठ खड़ा हुआ। उठते हुए उसे लगा कि उसके घुटनों में खून जम गया है। उसे जैसे सवाल ठीक से समझ ही नहीं आया—जैसे अलग-अलग शब्द थे जिन्हें मिलाकर उसके दिमाग में पूरा वाक्य नहीं बन पाया था।

"यह वही आदमी था न?"

उसके पैरों में पसीना आ रहा था। बगलों में भी साथ के कमरे में ठुकाई करते हुए पूछा जा रहा था, "तू नहीं था, तो कौन था कुत्ते के बीज? सीधे से बता दे—क्यों अपनी पसलियां तुड़वाता है?" जवाब में मार खाने वाला न जाने क्या कहने की कोशिश कर रहा था।

अब तक वाक्य उसके दिमाग में स्पष्ट हो गया था। जो सवाल पूछा गया था, उसका जवाब उसे 'हां' में देना था। यह बात पहले से ही तय थी—तब से ही जब कि उसे उस कमरे में लाया गया था। वह आदमी वही है, यह सब जानते थे—वह भी, थानेदार भी और दूसरे लोग भी। फिर भी उसके 'हां' कहने पर ही सब कुछ निर्भर करता था।

उसने कमीज़ के निचले हिस्से से बगलों का पसीना पोंछ लिया। फिर उसे खयाल आया कि वह दो दिन से नहाया नहीं है, और कि मिन्नी हमेशा उसे सुबह नहाकर न आने के लिए ताना देती है। आज सुबह मिन्नी ठीक वक्त पर वहां पहुंची होगी। उसके वहां न मिलने से उसने जाने क्या सोचा होगा!

उसे यह भी लग रहा था कि वह जाने कोट-टाई पहनकर क्यों आया है—

उसे क्या थाने में नौकरी के लिए दरख्वास्त देनी थी ?

"आप क्या सोच रहे हैं ?" थानेदार ने पूछा, "आपने उस आदमी को पहचाना नहीं ?"

यह एक नया विचार था। अगर सचमुच उसने उस आदमी को न पहचाना होता ?…और पहचानने के बाद भी इस वक्त अगर वह कह दे कि उसने नहीं पहचाना ?

पर इस विचार के दिमाग में ठीक से बनने के पहले ही, पहले की तय की बात उसके मुंह से निकल गई, "हां, वही आदमी है यह।"

जवाब सुनते ही थानेदार व्यस्ततापूर्वक वहां से हट गया। सब-इन्स्पेक्टर पल-भर उसकी तरफ देखता रहा, फिर यह कहकर कि "अब आप घर जा सकते हैं। चाकू, शनाख्त के लिए, आपके पास वहीं भेज दिया जाएगा," वह भी वहां से चला गया।

वह अपने में उलझा हुआ थाने से बाहर आया। बाहर की तेज़ खुली धूप में उसे अपना-आप बहुत असुरक्षित और नंगा-सा लगा। लगा, जैसे वह अपना बहुत कुछ उस कमरे में छोड़ आया हो—कल तक का सारा संघर्ष, मिन्नी का चेहरा और आगे की सब योजनाएं। फुटपाथ, सड़क और खम्भे पहले कभी उसे इतने सपाट और नंगे नहीं लगे थे। सामने जो पहली इमारत नज़र आ रही थी, और जिसकी ओट में जाकर वह अपने को कुछ ढका हुआ महसूस कर सकता था, वह भी सौ गज़ से कम फासले पर नहीं थी। खुले में, चारों तरफ से सबको दिखाई देते हुए, उतना फासला तय करना उसे असम्भव लग रहा था। 'अब मैं उस इलाके में नहीं रह पाऊंगा,' उसने सोचा। 'और वह घर छोड़ देना पड़ा, तो और कहां रहूंगा ? नौकरी तो अब तक मिली नहीं।…

उसने एक असहाय नज़र से चारों तरफ देख लिया। एक खाली टैक्सी पीछे से आ रही थी। उसने जेब के पैसे गिने और हाथ देकर टैक्सी को रोक लिया। फिर चोर नज़र से आस-पास देखकर उसमें बैठ गया। टैक्सीवाले को घर का पता देकर वह नीचे को झुक गया जिससे खिड़की के बाहर सिवाय सिर के, जिस्म का और कोई हिस्सा दिखाई न दे।

पैर में खुजली बहुत बढ़ गई थी। वह उसी तरह झुके-झुके कांपती उंगलियों से जूते का फीता खोलने लगा।

वारिस

घड़ी में तीन वजते ही सीढ़ियों पर लाठी की खट-खट होने लगती और मास्टरजी अपने गेरुआ वाने में ऊपर आते दिखाई देते। खट-खट आवाज़ सुनते ही हम भागकर वैठक में पहुंच जाते और अपनी कापियां और किताबें ठीक करते हुए ड्योढ़ी की तरफ देखने लगते। घड़ी तीन वजा न चुकी होती, तो उनके ऊपर पहुंचते-पहुंचते वजा देती। मैं वहन के कान के पास मुंह ले जाकर कहता, "एक-दो-तीन !..."

और मास्टरजी वैठक में पहुंच जाते। अगर घड़ी उनके वहां पहुंचने से दो-तीन मिनट पहले तीन वजा चुकी होती, तो वे उसपर शिकायत की एक नज़र डालते, भरकर रखे हुए गिलास में से दो घूंट पानी पीते और पढ़ाने वैठ जाते। मगर वैठकर भी दो-एक वार उनकी नज़र ऊपर हमारी दीवार-घड़ी की तरफ उठती, फिर अपने हाथ पर लगी हुई वड़े गोल डायल की पुरानी पीली-सी घड़ी पर पड़ती और वे 'हुं' या 'त्चत्' की आवाज़ से अपना असंतोष प्रकट करते—जाने अपने प्रति, अपनी घड़ी के प्रति या हमारी घड़ी के प्रति।

हमें मैट्रिक की परीक्षा देनी थी और वे हमें अंग्रेज़ी पढ़ाने के लिए आते थे। वहन मुझसे एक साल वड़ी थी, मगर उसने उसी साल ए, वी, सी, से अंग्रेज़ी सीखी थी। मैं भी अंग्रेज़ी इतनी ही जानता था कि विना हिचकिचाहट के 'वंडरफुल' के ये हिज्जे वता देता था—डब्लू ए एन, डी ओ आर, एफ यू डवल एल—वंडरफुल ! मास्टरजी कविता वहुत उत्साह के साथ पढ़ाते थे। वे टेनीसन, ब्राउनिंग और स्कॉट की पंक्तियों की व्याख्या करते हुए जैसे कहीं और ही पहुंच

जाते थे। उनकी आंखें चमकने लगती थीं और दोनों हाथ हिलने लगते थे। भाषा उनके मुंह से ऐसी निकलती थी जैसे खुद कविता कर रहे हों। मुझे कई वार कविता की पंक्ति तो समझ में आ जाती थी, उनकी व्याख्या समझ में नहीं आती। मैं मेज़ के नीचे से वहन के टखनों पर ठोकर मारने लगता। ऊपर से चेहरा गंभीर बनाए रहता। ठोकर मारना इसलिए ज़रूरी था कि अगर मैं ध्यान से पढ़ने देता, तो वह वीच में मास्टरजी से कोई सवाल पूछ लेती थी जिससे ज़ाहिर होता था कि वात उसकी समझ में आ रही है, और इस तरह अपनी हतक होती थी।

कविता पढ़ाकर मास्टरजी हमसे अनुवाद कराते। अनुवाद के पैसेज वे किसी किताव में से नहीं देते थे, ज़वानी लिखाते थे। उनमें कई बड़े-बड़े शब्द होते जो अपनी समझ में ही न आते। वे लिखाते :

"भावना जीवन की हरियाली है। भावना-विहीन जीवन एक मरुस्थल है जहां कोई अंकुर नहीं फूटता।"

हम पहले उनसे भावना की अंग्रेज़ी पूछते, फिर अनुवाद करते :

"सेंटीमेंट इज़ लाइफ्स वेजीटेबल। सेंटीमेंटलेस लाइफ इज़ ए डेज़र्ट ह्वेयर ग्रास इज़ नॉट ग्रो।"

वहन संशोधन करती कि 'इज़ नॉट ग्रो' नहीं, 'डू नॉट ग्रो' होना चाहिए, ग्रास 'सिंगुलर' नहीं 'प्लूरल' है। मैं उसके हाथ पर मुक्का मार देता कि कल ए-वी-सी सीखने वाली लड़की आज मेरी अंग्रेज़ी दुरुस्त करती है। वह मेरे वाल पकड़ लेती कि एक साल छोटा होकर यह लड़का वड़ी वहन के हाथ पर मुक्का मारता है! मगर जब मास्टरजी फैसला कर देते कि 'डू नॉट ग्रो' नहीं, 'इज़ नॉट ग्रो' ठीक है, तो मैं अपने अंग्रेज़ी के ज्ञान पर फूल उठता और वहन का चेहरा लटक जाता, हालांकि मारपीट के मामले में डांट मुझी को पड़ती।

मास्टरजी के आने का समय जितना निश्चित था, जाने का समय उतना ही अनिश्चित था। वे कभी डेढ़ घंटा और कभी दो घंटे पढ़ाते रहते थे। पढ़ते-पढ़ते पांच वजने को आ जाते तो मेरे लिए 'नाउन' और 'एडजेक्टिव' में फर्क करना मुश्किल हो जाता। मैं जम्हाइयां लेता और वार-वार ऊवकर घड़ी की तरफ देखता। मगर मास्टरजी उस समय 'पास्ट पार्टीसिपल' और 'परफेक्ट पार्टीसिपल' जैसी चीज़ों के वारे में जाने क्या-क्या वता रहे होते! पढ़ाई हो चुकने के

बाद वे दस मिनट हमें जीवन के संबंध में शिक्षा दिया करते थे। वे दस मिनट बिताना मुझे सबसे मुश्किल लगता था। वे पानी के छोटे-छोटे घूंट भरते और जोश में आकर सुन्दर और असुन्दर के विषय में जाने क्या कह रहे होते, और मैं अपनी कापी घुटनों पर रखे हुए उसमें लिखने लगता :

"सुन्दर मुन्दरियो, हो !
तेरा कौन बिचारा, हो !
दुल्ला भट्टीवाला, हो !"

बहन का ध्यान भी मेरी कापी पर होता क्योंकि वह आंख के इशारे से मुझे यह सब करने से मना करती। कभी वह इशारे से धमकी देती कि मास्टर जी से मेरी शिकायत कर देगी। मैं आंखों ही आंखों में उसकी खुशामद कर लेता। जब मास्टरजी का सबक खत्म होता और उनकी कुर्सी 'च्यां' की आवाज़ करती हुई पीछे को हटती, तो मेरा दिल खुशी से उछलने लगता। सीढ़ियां पर खट्-खट् की आवाज़ समाप्त होने से पहले ही मैं पतंग और डोर लिए हुए कोठे पर पहुंच जाता और 'आ बोऽऽ काटाऽऽ काटाऽऽ ईऽऽ बोऽऽ !' का नारा लगा देता।

मास्टरजी के बारे में हम ज़्यादा नहीं जानते थे—यहां तक कि उनके नाम का भी नहीं पता था। एक दिन अचानक ही वे पिताजी के पास बैठक में आ पहुंचे थे। उन्होंने कहा था कि एक भी पैसा पास न होने से वे बहुत तंगी में हैं, मगर वे किसीसे खैरात नहीं लेना चाहते, काम करके रोटी खाना चाहते हैं। उन्होंने बताया कि उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी० एल० किया है और बच्चों को बंगला और अंग्रेज़ी पढ़ा सकते हैं। पिताजी हम दोनों की अंग्रेज़ी की योग्यता से पहले ही आतंकित थे, इसलिए उन्होंने उसी समय से उन्हें हमें पढ़ाने के लिए रख लिया। कुछ दिनों बाद वे उन्हें और ट्यूशन दिलाने लगे तो मास्टरजी ने मना कर दिया। हमारे घर से थोड़ी दूर एक गंदी-सी गली में चार रुपये महीने की एक कोठरी लेकर रहने लगे थे। यह प्रश्न पूछने पर भी नहीं बताते थे कि बी० एल० करने के बाद उन्होंने प्रैक्टिस क्यों नहीं की और और घर-बार छोड़कर गेरुआ क्यों धारण कर लिया। वे बस उत्तेजित-से पढ़ाने आते, और उसी तरह उत्तेजित-से उठकर चले जाते।

एक दिन घड़ी ने तीन बजाए तो हम लोग रोज़ की तरह भागकर बैठक में

पहुंच गए और दम साधकर अपनी-अपनी कुर्सी पर बैठ गए। मगर काफी समय गुज़र जाने पर भी सीढ़ियों पर खट्-खट् की आवाज़ सुनाई नहीं दी। एक मिनट, दो मिनट, दस मिनट! हम लोगों को हैरानी हुई—मुझे खुशी भी हुई। चार महीने में मास्टरजी ने पहली बार छुट्टी की थी। इस खुशी में मैं अंग्रेज़ी की कापी में थोड़ी ड्राइंग करने लगा। बहन से बी और एफ हमेशा एक-से लिखे जाते थे—वह उनके अन्तर को पकाने लगी। मगर यह खुशी ज़्यादा देर नहीं रही। सहसा सीढ़ियों पर खट्-खट् सुनाई देने लगी, जिससे हम चौंक गए और निराश भी हुए। मास्टरजी अपने रोज़ के कपड़ों के ऊपर एक छोटा गेरुआ कंबल लिए बैठक में पहुंच गए। मैंने उन्हें देखते ही अपनी बनाई हुई ड्राइंग फाड़ दी। वे हांफते-से आकर आरामकुर्सी पर बैठ गए और दो घूंट पानी पीने के बाद पोइट्री की किताब खोलकर पढ़ाने लगे :

"टेल मी नॉट इन मोर्नफुल नंबर्ज़
लाइफ इज़ ऐन एम्प्टी ड्रीम !..."

मैंने देखा उनका सारा चेहरा एक बार पसीने से भीग गया और वे सिर से पैर तक कांप गए। कुछ देर वे चुप रहे। फिर उन्होंने गिलास को छुआ, मगर उठाया नहीं। उनका सिर झुककर बांहों में आ गया और कुछ देर वहीं पड़ा रहा। उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे सामने सिर्फ कंबल में लिपटी हुई एक गांठ ही पड़ी हो। जब उन्होंने चेहरा उठाया, तो मुझे उनकी नाक और आंखों के बीच की झुर्रियां बहुत गहरी लगीं। उनकी आंखें झपतीं और कुछ देर बंद ही रहतीं। फिर जैसे प्रयत्न से खुलतीं। वे होठों पर ज़बान फेरकर फिर पढ़ाने लगते :

"फार द सोल इज़ डेड दैट स्लंबर्ज़
एण्ड थिंग्ज़ आर नॉट व्हाट दे सीम !"

मगर उसके साथ उनका सिर फिर झुक जाता। मैंने डरी हुई-सी नज़र से बहन की तरफ देखा।

"मास्टरजी, आज आपकी तबियत ठीक नहीं है।" बहन ने कहा, "आज हम और नहीं पढ़ेंगे।"

नहीं पढ़ेंगे—यह सुनकर मेरे दिल में खुशी की लहर दौड़ गई। मगर उस हिलती हुई गठरी को देखकर डर भी लग रहा था। मास्टरजी ने आंखें उठाईं

और धीरे-से कुछ कहा। फिर उन्होंने पुस्तक की तरफ हाथ बढ़ाया तो बहन ने पुस्तक खींच ली। कुछ देर मास्टरजी हम लोगों की तरफ देखते रहे—जैसे हम उनसे बहुत दूर बैठे हों और वे हमें ठीक से पहचान न पा रहे हों। फिर एक लम्बी सांस लेकर चलने के लिए उठ खड़े हुए।

पूरे चार सप्ताह वे टाइफाइड मे पड़े रहे।

उन दिनों मेरी ड्यूटी लगाई गई कि मैं उनकी कोठरी में जाकर उन्हें सूप वगैरा दे आया करूं। वैद्यजी के पास जाकर उनकी दवाई-अवाई भी मुझे ही लानी होती थी। मेरा काफी समय उनकी कोठरी में बीतता। वे अपने कंबल में लिपटकर चारपाई पर लेटे हुए 'हाय-हाय' करते रहते और मैं ऊपर-नीचे होते हुए कंबल के रोयों को देखता रहता। कभी मिट्टी के फर्श पर या स्याह पड़ी हुई दीवारों पर उंगली से तस्वीरें बनाने लगता। कोठरी निहायत बोसीदा थी और उसमें चारों तरफ से पुराने सीलन की गंध आती थी। दीवारों का पलस्तर जगह-जगह से उखड़ गया था और कुछ जगह उखड़ने की तैयारी में ईंटों से आगे को उभर आया था। मुझे उस पलस्तर में तरह-तरह के चेहरे नज़र आते। पलस्तर का कोई टुकड़ा झड़कर खप-से नीचे आ गिरता तो मैं ऐसे चौंक जाता जैसे मेरी आंखों के सामने किसी मुर्दा चीज़ में जान आ गई हो। कभी मैं उठकर खिड़की के पास चला जाता। खिड़की में सलाखों की जगह बांस के टुकड़े लगे थे। गली से उठती हुई भयानक दुर्गन्ध से दिमाग फटने लगता। वह गली जैसे शहर का कूड़ाघर थी। एक मुर्गा गली के कूड़े को अपने पैरों से बिखेरता रहता और हर आठ-दस मिनट के बाद ज़ोर से बांग दे देता।

मास्टरजी के पास ज़्यादा सामान नहीं था, पर जो कुछ भी था, उसे देखने को मेरे मन में बहुत उत्सुकता रहती थी। एक दिन जब थोड़ी देर के लिए मास्टरजी की आंख लगी, तो मैंने कोठरी के सारे सामान की जांच कर डाली। कपड़ों के नाम पर वही चंद चीथड़े थे जो हम उनके शरीर पर देखा करते थे। डंडे और कमंडल के अतिरिक्त उनकी सम्पत्ति में कुछ पुरानी फटी हुई पुस्तकें थीं जिनमें से केवल भगवद्गीता का शीर्षक ही मैं पढ़ सका। शेष पुस्तकें बंगला में थीं। एक पुस्तक के बीच में एक लिफाफा रखा था जिसपर सात साल पहले की हावड़ा और मिदनापुर की मोहरें लगी थीं। मैंने डरते-डरते लिफाफे में से पत्र निकाल लिया। यह भी बंगला में था। बीच में कोई-कोई शब्द अंग्रेजी का

था—स्टैंडर्ड···मीन्ज़···ओवर-कॉन्फिडेंस···डिस्गस्टिंग···हेल···। मैंने जल्दी से पत्र वापस लिफाफे में रख दिया। पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ पुराने और नये फुलस्केप कागज़ थे जिस पर बंगला और अंग्रेज़ी में बहुत कुछ लिखा हुआ था। वे कागज़ अभी मेरे हाथों में ही थे कि मास्टरजी की आंख खुल गई और वे खांसते हुए उठकर बैठ गए। मैं कांपते हुए हाथों से कागज़ रखने लगा तो वे पहले मुसकराए, फिर हंसने लगे।

"इन्हें इधर ले आओ।" वे बोले।

मैं अपराधी की तरह कागज़ लिए हुए उनके पास चला गया। उन्होंने कागज़ मुझसे ले लिए और मुझे पास बिठाकर मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगे।

"जानते हो इन कागज़ों में क्या है?" उन्होंने बुखार के कारण कमज़ोर आवाज़ में पूछा।

"नहीं।" मैंने सिर हिलाया।

"यह मेरी सारी जिन्दगी की पूंजी है।" उन्होंने कहा और उन कागज़ों को छाती पर रखे हुए लेट गए। लेटे-लेटे कुछ देर उन्हें उथल-पुथलकर देखते रहे, फिर उन्होंने उन्हें अपनी दाईं ओर रख लिया। कुछ देर वे अपने में खोए रहे और जाने क्या सोचते रहे। फिर बोले, "बच्चे, जानते हो मनुष्य जीवित क्यों रहना चाहता है?"

मैंने सिर हिला दिया कि मैं नहीं जानता।

"अच्छा, मैं तुम्हें बताऊंगा कि मनुष्य क्यों जीवित रहना चाहता है और कैसे जीवित रहता है। मैं तुम्हें और भी बहुत कुछ बताना चाहता हूं, मगर अभी तुम छोटे हो। जरा बड़े होते, तो···। खैर···अब भी जो कुछ बता सकता हूं, ज़रूर बताऊंगा। तुम मेरे लिए मेरे बच्चे की तरह हो—तुम दोनों ही मेरे बच्चे हो।"

उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरा दिल बैठने लगा कि वे जो कुछ बताना चाहते हैं, उसी समय न बताने लगें क्योंकि मैं जानता था कि वे जो कुछ भी बताएंगे वह ऐसी मुश्किल बात होगी कि मेरी समझ में नहीं आएगी। समझने की कोशिश करूंगा, तो कई मुश्किल शब्दों के अर्थ सीखने पड़ेंगे। मेरा अनुभव कहता था कि शब्द खुद जितना मुश्किल होता है, उसके हिज्जे उससे भी ज़्यादा मुश्किल होते हैं। हिज्जों से मैं बहुत घबराता था।

मगर उस समय उन्होंने और कुछ नहीं कहा। सिर्फ मेरा हाथ पकड़कर लेटे रहे।

अच्छे होकर जब वे हमें फिर पढ़ाने आने लगे, तो उन्होंने कहा कि अब से वे अंग्रेज़ी के अतिरिक्त हमें थोड़ी-थोड़ी बंगला भी सिखाएंगे क्योंकि बंगला सीखकर हम उनके विचारों को ठीक से समझ सकेंगे। अब वे तीन बजे आते और साढ़े पांच-छ: बजे तक बैठे रहते। मैं साढ़े तीन, चार बजे से ही घड़ी की तरफ देखना आरम्भ कर देता और जाने किस मुश्किल से वह सारा वक्त काटता। उनकी दो महीने की जी-तोड़ मेहनत से हम बहन-भाई इतनी ही बंगला सीख पाए कि एक-दूसरे को बजाय तुम के 'तूमि' कहने लगे। वह कहती, "तूमि मेरी कापी का वरका मत फाड़ो!"

और मैं कहता, "तूमि बकवास मत करो!"

हमारी इस प्रगति से मास्टरजी बहुत निराश हुए और कुछ दिनों बाद उन्होंने हमें बंगला सिखाने का विचार छोड़ दिया। अनुवाद के लिए अब वे पहले से भी मुश्किल पैसेज लिखाने लगे, मगर इससे सारा अनुवाद उन्हें खुद ही करना पड़ता। उस माध्यम से भी हमें बड़ी-बड़ी बातें सिखाने का प्रयत्न करके जब वे हार गए, तो उन्होंने एक और उपाय सोचा। वे फुलस्केप कागज़ बीच में से आधे-आधे फाड़कर उनपर दोनों ओर पेंसिल से अंग्रेज़ी में बहुत कुछ लिखकर लाने लगे। बहन के लिए वे अलग कागज़ लाते और मेरे लिए अलग। उनका कहना था कि वे रोज़ उन कागज़ों में हमको एक-एक नया विचार देते हैं, जिसे हम अभी चाहे न समझें, बड़े होने पर ज़रूर समझ सकेंगे, इसलिए हम उन कागज़ों को अपने पास संभालकर रखते जाएं। पहले छ:-आठ दिन तो हमने कागज़ों की बहुत संभाल रखी, मगर बाद में उन्हें संभालकर रखना मुश्किल होने लगा। अक्सर बहन मेरे कागज़ कहीं से गिरे हुए उठा लाती और कहती कि कल वह मास्टरजी से शिकायत करेगी। मैं मुंह बिचका देता। एक दिन मैंने देखा आलमारी में सिर्फ बहन के कागज़ ही तह किए रखे हैं, मेरा कोई कागज़ नहीं है। चारों तरफ खोज करने पर भी मुझे अपने कागज़ नहीं मिले, तो मैंने बहन के सब पुलिंदे भी उठाकर फाड़ दिए। इस पर बहन ने मेरे बाल नोच लिए। मैंने उसके बाल नोच लिए। उस दिन से हम दोनों इस ताक में रहने लगे कि कल मास्टरजी के दिए हुए एक के कागज़ दूसरे के हाथ में लगें कि वह उन्हें

फाड़ दे। मास्टरजी से कागज़ लेते हुए हम चोर आंख से एक-दूसरे की तरफ देखते और मुश्किल से अपनी मुसकराहट दबाते। मास्टरजी किसी-किसी दिन अपने पुराने कागज़ के पुलिंदे साथ ले आते थे और वहीं बैठकर उनमें से हमारे लिए कुछ हिस्से नक़ल करने लगते थे। हम दोनों उतनी देर कापियों पर इधर-उधर के रिमार्क लिखकर आपस में कापियां तबदील करते रहते। इधर मास्टर जी वे पुलिंदे हमारे हाथों में देकर सीढ़ियों से उतरते, उधर हमारी आपस में छीना-झपटी आरम्भ हो जाती और हम एक-दूसरे के कागज़ को मसलने और नोचने लगते। अक्सर इस बात पर हमारी लड़ाई हो जाती कि मास्टरजी एक को अठारह और दूसरे को चौदह पन्ने क्यों दे गए हैं।

परीक्षा में अब थोड़े ही दिन रह गये थे। पिताजी ने एक दिन हमसे कहा कि हम मास्टरजी को अभी से सूचित कर दें कि जिस दिन हमारा अंग्रेज़ी का बी पेपर होगा उस दिन तक तो हम उनसे पढ़ते रहेंगे मगर उसके बाद···। उस दिन मास्टरजी के आने तक हम आपस में झगड़ते रहे कि हममें से कौन उनसे यह बात कहेगा। आखिर तीन बज गए और मास्टरजी आ गए। उन्होंने हमेशा की तरह घड़ी की तरफ देखा, 'च्चत् च्चत्' की आवाज़ के साथ सिर को झटका दिया और पानी का एक घूंट पीकर पोइट्री की किताब खोल ली। हम दोनों ने एक-दूसरे की तरफ देखा और आंखें झुका लीं।

"मास्टरजी !" बहन ने धीरे-से कहा।

उन्होंने आंखें उठाकर उसकी तरफ देखा और पूछा कि क्या बात है—उसकी तबियत तो ठीक है ?

बहन ने एक बार मेरी तरफ देखा, मगर मेरी आंखें ज़मीन में धंसी रहीं।

"मास्टरजी, पिताजी ने कहा है···" और उसने रुकते-रुकते बात उन्हें बता दी।

"क्या मैं नहीं जानता ?" माथे पर त्यौरियां डालकर सहसा उन्होंने कड़े शब्दों में कहा, "मुझे यह बताने की क्या ज़रूरत थी ?" और वे जल्दी-जल्दी कविता की पंक्तियां पढ़ने लगे :

"शेड्स ऑफ नाइट वर फालिंग फास्ट !
ह्वेन थ्रू ऐन एल्पाइन विलेज पास्ट।
ए यूथ···"

सहसा उनका गला भर्रा गया। उन्होंने जल्दी से दो घूंट पानी पिया और फिर से पढ़ने लगे :

"शेड्स ऑफ नाएट वर फालिंग फास्ट !..."

उस दिन पहली बार उन्होंने जाने का समय जानने के लिए भी घड़ी की तरफ देखा। पूरे चार बजते ही वे कागज़ समेटते हुए उठ खड़े हुए। अगले दिन आए, तो आते ही उन्होंने हमारी परीक्षा की डेटशीट देखी और बताया कि जिस दिन हमारा बी पेपर होगा उसी दिन वे वहां से चले जाएंगे। उन्होंने निश्चय किया था कि वे कुछ दिन जाकर गरुड़चट्टी में रहेंगे, फिर उससे आगे घने पहाड़ों में चले जाएंगे, जहां से फिर कभी लौटकर नहीं आएंगे। उस दिन उनसे पढ़ते हुए न जाने क्यों मुझे उनके चेहरे से डर लगता रहा।

हमारा बी पेपर हो गया। मास्टरजी ने कांपते हाथों से हमारा पर्चा देखा। उन्होंने जो-जो कुछ पूछा, मैंने उसका सही जवाब बता दिया। मैं हाल से निकलकर हर सवाल के सही जवाब का पता कर आया था। बहन जवाब देने में अटकती रही। मास्टरजी ने मेरी पीठ थपथपाई, पानी पिया और चले गए। मगर शाम को वे फिर आए। पिताजी से उन्होंने कहा कि वे जाने से पहले एक बार बच्चों से मिलने आए हैं। हम दोनों को अन्दर से बुलाया गया। मास्टरजी ने हमसे कोई बात नहीं की, सिर्फ हमारे सिर पर हाथ फेरा और 'अच्छा...' कहकर चल दिए। हम लोग उनके साथ-साथ ड्योढ़ी तक आए। वहां रुककर उन्होंने मेरी ठोड़ी को छुआ और कहा, "अच्छा, मेरे बच्चे !..." और कांपते हाथ से उन्होंने किसी तरह अपना भूरा-सा फाउंटेन पेन जेब से निकाला और मेरे हाथ में दे दिया।

"रख लो, रख लो !" उन्होंने ऐसे कहा जैसे मैंने उसे लेने से इन्कार किया हो, "बहुत अच्छा तो नहीं है, मगर काम करता है। मुझे तो अब इसकी जरूरत नहीं पड़ेगी। तुम अपने पास रख छोड़ना...या फेंक देना...।"

उनकी आंखें भर आई थीं इसलिए उन्होंने मुसकराने का प्रयत्न किया और मेरा कंधा थपथपाकर खट-खट सीढ़ियां उतर गए। बहन स्पर्धा की दृष्टि से मेरे हाथ में उस फाउंटेन पेन को देख रही थी। मैंने उसे अंगूठा दिखाया और पेन खोलकर उसके निब की जांच करने लगा।

मगर उसके कुछ ही दिन बाद वह निब मुझसे टूट गई—और फिर वह पेन भी जाने कहां खो गया।

सुहागिनें

कमरे में दाखिल होते ही मनोरमा चौंक गई। काशी उसकी साड़ी का पल्ला सिर पर लिये ड्रेसिंग टेबल के पास खड़ी थी। उसके होठ लिपस्टिक से रंगे थे और चेहरे पर बेहद पाउडर पुता था, जिससे उसका सांवला चेहरा डरावना लग रहा था। फिर भी वह मुग्ध भाव से शीशे में अपना रूप निहार रही थी। मनोरमा उसे देखते ही आपे से बाहर हो गई।

"माई," उसने चिल्लाकर कहा, "यह क्या कर रही है?"

काशी ने हड़बड़ाकर साड़ी का पल्ला सिर से हटा दिया और ड्रेसिंग टेबल के पास से हट गई। मनोरमा के गुस्से के तेवर देखकर पल-भर तो वह सहमी रही। फिर अपने स्वांग का ध्यान हो आने से हंस दी।

"बहनजी, माफी दे दें।" उसने मिन्नत के लहजे में कहा। "कमरा ठीक कर रही थी···शीशे के सामने आई, तो ऐसे ही मन कर आया। आप मेरी तनखाह में से पैसे काट लेना।"

"तनखाह में से पैसे काट लेना!" मनोरमा और भी भड़क उठी। "पंद्रह रुपये तनख्वाह है और बेगम साहब साढ़े छः रुपये लिपस्टिक के कटवाएंगी। कम्बख्त रोज़ प्लेटें तोड़ती है, मैं कुछ नहीं कहती। घी, आटा, चीनी चुराकर ले जाती है, और मैं देखकर भी नहीं देखती। सारा स्टाफ शिकायत करता है कि कुछ काम नहीं करती, किसीका कहा नहीं मानती। कमेटी के मेम्बर अलग मेरी जान खाते हैं कि इसे दफा करो, रोज़-रोज़ अपना रोना लेकर हमारे यहां आ मरती है। मैं फिर भी तरह दे जाती हूं कि निकाल दिया तो दर-बदर

मारी-मारी न फिरे—और उसका तू मुझे यह बदला देती है ? कमीनी कहीं की !"

उसने बेंत की कुर्सी को इस तरह अपनी तरफ खींचा, जैसे उसने कोई अपराध किया हो, और उसपर बैठकर माथे को अपने ठंडे हाथ से मलने लगी। काशी चुपचाप खड़ी रही।

"चालीस की होने को आई, मगर बांकपन की चाह अब भी बाकी है !" मनोरमा फिर बड़बड़ाई। "छिनाल कहीं की !"

सिर झटककर उसने आंखें मूंद लीं। दिन-भर की स्कूल की बक-झक से दिमाग वैसे ही खाली हो रहा था। शरीर भी थका था। वह उस समय पब्लिक लाइब्रेरी से होकर मिलिट्री लाइन्ज़ का बड़ा राउंड लगाकर आई थी। निकली यह सोचकर थी कि घूमने से मन में कुछ ताज़गी आएगी, मगर लौटते हुए मन पर अजब भारीपन छा गया था। क्वार्टर से आधा मील दूर थी जब सूरज डूब गया था। तब कुछ क्षणों के लिए उसे अपना-आप हल्का-हल्का-सा लगा था। हवा, पेड़ों के हिलते पत्ते और अस्त-व्यस्त बिखरे बादलों के टुकड़े, हर चीज़ में एक मादक स्पर्श का अनुभव हुआ था। सड़क पर फैली संध्या की फीकी चांदनी धीरे-धीरे रंग पकड़ रही थी। वह साड़ी का पल्ला पीछे को कसकर कई कदम तेज़-तेज चल गई। मगर टैंकी के मोड़ तक पहुंचते-पहुंचते सारा उत्साह गायब हो गया। जब स्कूल के गेट के पास पहुंची तो अन्दर पैर रखने को भी मन नहीं था। मगर उसने किसी तरह मन को बांधा और लोहे के गेट को हाथ से धकेल दिया। गर्ल्ज़ हाई स्कूल की हेड मिस्ट्रेस रात को देर तक सड़कों पर अकेली कैसे घूम सकती थी ! बुझे मन से वह क्वार्टर की सीढ़ियां चढ़ी, तो यह माजरा सामने आ गया।

उसने आंखें खोलीं, तो काशी को उसी तरह खड़ी देखकर उसका गुस्सा और बढ़ गया। जैसे उसे आशा थी कि उसके आंखें बंद करने और खोलने के बीच काशी सामने से हट जाएगी।

"अब खड़ी क्यों है ?" उसने डांटकर कहा। "जा यहां से।"

काशी के चेहरे पर डांट का कोई खास असर दिखाई नहीं दिया। वह ज़रा-सा पास आकर फर्श पर बैठ गई।

"बहनजी, हाथ जोड़ रही हूं, माफी दे दो।" उसने मनोरमा के पैर पकड़

लिए। मनोरमा पैर हटाकर कुर्सी से उठ खड़ी हुई।

"तुझसे कह दिया है इस वक्त चली जा, मुझे तंग न कर।" कहकर वह खिड़की की तरफ चली गई। काशी भी उठकर खड़ी हो गई।

"चाय बना दूं ?" उसने कहा। "घूमकर थक गई होंगी।"

"तू जा, मुझे चाय-वाय नहीं चाहिए !"

"तो खाना ले आती हूं।"

मनोरमा कुछ न कहकर मुंह दूसरी तरफ किए रही।

"बहनजी, मिन्नत कर रही हूं माफी दे दो।"

मनोरमा चुप रही। सिर्फ उसने सिर को हाथ से दबा लिया।

"सिर में दर्द है तो सिर दबा देती हूं।" काशी अपने हाथ पल्ले से पोंछने लगी।

"तुझसे कह दिया है जा, मेरा सिर क्यों खा रही है !" मनोरमा ने चिल्लाकर कहा। काशी चोट खाई-सी पीछे हट गई। पल-भर अवाक् भाव से मनोरमा की तरफ देखती रही। फिर निकलकर बरामदे में चली गई। वहां से कुछ कहने के लिए मुड़ी, मगर बिना कहे चली गई। जब तक लकड़ी के ज़ीने पर उसके पैरों की आवाज़ सुनाई देती रही, मनोरमा खिड़की के पास खड़ी रही। फिर आकर, सिर दबाए, बिस्तर पर लेट गई।

उसे लगा इसमें सारा कसूर उसी का है। और कोई हेड मिस्ट्रेस होती, तो कब का इस औरत को निकाल बाहर करती। वह जितना उसे तरह देती थी, उतना ही वह उसकी कमज़ोरी का फायदा उठाती थी। उसके बच्चों की भी वह कितनी शैतानियां बर्दाश्त करती थी ! दिन-भर उसके क्वार्टर की सीढ़ियों पर शोर मचाते रहते थे और स्कूल के कम्पाउंड को गंदा करते रहते थे। उसने एक बार उन्हें गोलियां ला दी थीं। तब से उसे देखते ही उसकी साड़ी से चिपटकर गोलियां मांगने लगते थे। उसने कितना चाहा था कि वे साफ रहना सीख जाएं। बड़ी लड़की कुन्ती की तो चड्डियां भी उसने अपने हाथ से सी दी थीं। मगर उससे कोई फर्क नहीं पड़ा। वे उसी तरह गंदे रहते थे और उसी तरह गुलगपाड़ा मचाए रखते थे। पिछली बार इंस्पेक्शन के दिन उन्होंने कम्पाउंड के फर्श पर कोयले से लकीरें खींच दी थीं जिससे दूसरी बार सारे कम्पाउंड की सफाई करानी पड़ी थी। कई बार वे बाहर से

के सामने जीभें निकाल देते थे। वही थी जो सब बर्दाश्त किए जाती थी।

कुछ देर वह छत की तरफ देखती रही। फिर उठकर बरामदे में चली गई। लकड़ी के बरामदे में अपने ही पैरों की आवाज़ से शरीर में कंपकंपी भर गई। उसने मुंडेर के खंभे पर हाथ रख लिया। अहाते में खुली चांदनी फैली थी। ईंटों के फर्श पर सीमेंट की लकीरें एक इन्द्रजाल-सी लगती थीं। स्कूल के बरामदे में पड़े डेस्क, स्टूल और ब्लैकबोर्ड ऐसे लग रहे थे जैसे डरावनी सूरतों वाले भूत-प्रेत अपने गार के अन्दर से बाहर झांक रहे हों। देवदार का घना जंगल जैसे ठण्डी चांदनी के स्पर्श से सिहर रहा था। वैसे बिलकुल सन्नाटा था।

काशी के क्वार्टर में इस वक्त इतनी खामोशी कभी नहीं होती थी। आम तौर पर नौ-दस बजे तक उसके बच्चे चीखते-चिल्लाते रहते थे। उस समय लग रहा था जैसे उस क्वार्टर में कोई रहता ही न हो। रोशनदान में गत्ते लगे रहने से यह भी पता नहीं चल रहा था कि अन्दर लालटेन जल रही है या नहीं। मनोरमा ने खंभे को और भी अच्छी तरह थाम लिया जैसे पास में उसका वही एक आत्मीय हो जिसे वह अपने प्रति सचेत रखना चाहती हो। देवदारों के झुरमुटों में से गुज़रती हवा की आवाज़ पास आई और दूर चली गई।

"कुन्ती !" मनोरमा ने आवाज़ दी।

उसकी आवाज़ को भी हवा दूर, बहुत दूर, ले गई। जंगल की सरसराहट फिर एक बार बहुत पास चली आई। काशी के क्वार्टर का दरवाज़ा खुला और कुन्ती अपने में सिमटती-सी बाहर निकली। मनोरमा ने सिर के इशारे से उसे ऊपर आने को कहा। कुन्ती ने एक बार अपने क्वार्टर की तरफ देखा और···और भी सिमटती हुई ऊपर चली आई।

"तेरी मां क्या कर रही है ?" मनोरमा ने कोशिश की कि उसकी आवाज़ रूखी न लगे।

"कुछ भी नहीं।" कुन्ती ने सिर हिलाकर कहा।

"कुछ तो कर रही होगी।···"

"रो रही है।"

"क्यों रो रही है ?"

कुन्ती चुप रही। मनोरमा भी चुप रहकर नीचे देखने लगी।

"तुम लोगों ने रोटी नहीं खाई ?" पल-भर रुककर उसने पूछा।

"रात की बस से बापू को आना है। मां कहती थी कि सब लोग उसके आने पर ही रोटी खाएंगे।"

मनोरमा के सामने जैसे सब कुछ स्पष्ट हो गया। तीन साल के बाद अजुध्या आ रहा है, यह बात काशी उसे बता चुकी थी। तभी आज आईने के सामने जाने पर उसके मन में पाउडर और लिपस्टिक लगाने की इच्छा जाग आई थी। उसके बच्चे भी शायद इसीलिए आज इतने खामोश थे। उनका बापू आ रहा था।···बापू !···जिसे उन्होंने तीन साल से देखा नहीं था, और जिसे शायद वे पहचानते भी नहीं थे। या शायद पहचानते थे—एक मोटी सख्त आवाज़ और तमाचे जड़ने वाले हाथों के रूप में।···

"जा, और अपनी मां को ऊपर भेज दे।" उसने कुन्ती का कंधा थपथपा दिया। 'कहना, मैं बुला रही हूं।"

कुन्ती बांहें और कन्धे सिकोड़े नीचे चली गई। थोड़ी देर में काशी ऊपर आ गई। उसकी आंखें लाल थीं और वह बार-बार पल्ले से अपनी नाक पोंछ रही थी।

"मैंने ज़रा-सी बात कह दी और तू रोने लगी ?" मनोरमा ने उसे देखते ही कहा।

"बहनजी, नौकर-मालिक का रिश्ता ही ऐसा है !"

"गलत काम करने पर ज़रा भी कुछ कह दो तो तू रोने लगती है।" मनोरमा जैसे किसी टूटी हुई चीज़ को जोड़ने लगी। "जा, अन्दर गुसलखाने से हाथ-मुंह धो आ।"

मगर काशी नाक़ और आंखें पोंछती हुई वहीं खड़ी रही। मनोरमा एक हाथ से दूसरे हाथ की उंगलियां मसलने लगी। "अजुध्या आज आ रहा है ?" उसने पूछा।

काशी ने सिर हिला दिया।

"कुछ दिन रहेगा या जल्दी चला जाएगा ?"

"चिट्ठी में तो यही लिखा है कि ठेका उठाकर चला जाएगा।"

मनोरमा जानती थी कि अजुध्या की खानदानी ज़मीन पर सेब के कुछ पेड़ हैं, जिनका हर साल ठेका उठता है। पिछले साल काशी ने सत्रा सौ में

ठेका दिया था और उससे पिछले साल डेढ़ सौ में। पिछले साल अजुध्या ने उसे बहुत सख्त चिट्ठी लिखी थी। उसका ख्याल था कि काशी ठकेदारों से कुछ पैसे अलग से लेकर अपने पास रख लेती है। इसलिए इस बार काशी ने उसे लिख दिया था कि ठेका उठाने के लिए वह आप ही वहां आए। वह रुपये-पैसे के मामले में किसी की बात सुनना नहीं चाहती। पांच साल हुए अजुध्या ने उसे छोड़कर दूसरी औरत कर ली थी और उसे लेकर पठानकोट में रहता था। वहीं उसने एक छोटी-सी परचून की दुकान डाल रखी थी। काशी को वह खर्च के लिए एक पैसा भी नहीं भेजता था।

"सिर्फ ठेका उठाने के लिए ही पठानकोट से आ रहा है ?" मनोरमा ने ऐसे कहा जैसे सोच वह कुछ और ही रही हो। "आधे पैसे तो उसके आने-जाने में निकल जाएंगे।"

"मैंने सोचा इस बहाने एक बार यहां हो जाएगा, और बच्चों से मिल जाएगा।" काशी की आवाज़ फिर कुछ भीग गई। "फिर उसकी तसल्ली भी हो जाएगी कि आजकल इन सेबों का डेढ़ सौ कोई नहीं देता।"

"अजीब आदमी है।" मनोरमा हमदर्दी के स्वर में बोली। "अगर सचमुच तू कुछ पैसे रख भी ले तो क्या है ? आखिर तू उसीके बच्चों को तो पाल रही है। चाहिए तो यह कि हर महीने वह तुझे कुछ पैसे भेजा करे। उसकी जगह वह इस तरह की बातें करता है।"

"बहनजी, मर्द के सामने किसीका बस चलता है !" काशी की आवाज़ और भीग गई।

"तो तू क्यों उससे नहीं कहती कि···?" कहते-कहते मनोरमा ने अपने को रोक लिया। उसे याद आया कि कुछ दिन हुए एक बार सुशील की चिट्ठी आने पर काशी उससे इसी तरह की बातें पूछती रही थी जो उसे अच्छी नहीं लगी थीं। काशी ने कई सवाल पूछे थे—कि बाबूजी आप इतना कमाते हैं, तो उससे नौकरी क्यों कराते हैं ? कि उनके अभी तक कोई बच्चा-अच्चा क्यों नहीं हुआ ? और कि वह अपनी तनखाह अपने ही पास रखती है या बाबूजी को भी कुछ भेजती है ? तब उसने काशी की बातों को हंसकर टाल दिया था, मगर अपने अन्दर उसे महसूस हुआ था कि उसके मन की कोई बहुत कमजोर सतह उन बातों से छू गई है—और उसका मन कई दिन तक उदास रहा था।

"रोटी ले आऊं ?" काशी ने आवाज़ को थोड़ा सहेजकर पूछा।

"नहीं, मुझे अभी भूख नहीं है।" मनोरमा ने काफी मुलायम स्वर में कहा जिससे काशी को विश्वास हो जाए कि अब वह बिलकुल नाराज़ नहीं है। "जब भूख लगेगी, मैं खुद ही निकालकर खा लूंगी। तू जाकर अपने यहां का काम पूरा कर ले, अजुध्या अब आने वाला ही होगा। आखिरी बस नौ बजे पहुंच जाती है।"

काशी चली गई, तो भी मनोरमा खंभे का सहारा लिये काफी देर खड़ी रही। हवा तेज़ हो गई थी। उसे अपने मन में बेचैनी महसूस होने लगी। उसे वे दिन याद आए जब ब्याह के बाद वह और सुशील साथ-साथ पहाड़ों पर घूमा करते थे। उन दिनों लगता था कि उस रोमांच के सामने दुनिया की हर चीज़ हेच है। सुशील उसका हाथ भी छू लेता तो शरीर में एक ज्वार उठ जाता था और रोयां-रोयां उस ज्वार में बह चलता था। देवदार के जंगल की सारी सरसराहट जैसे शरीर में भर जाती थी। अपने को उसके शरीर में खो देने के बाद जब सुशील उससे दूर हटने लगता, तो वह उसे और भी पास कर लेना चाहती थी। वह कल्पना में अपने को···एक छोटे-से बच्चे को अपने में लिए हुए देखती और पुलकित हो उठती। उसे आश्चर्य होता कि क्या एक सचमुच हिलती-डुलती काया उसके शरीर के अन्दर से जन्म ले सकती है। कितनी बार वह सुशील से कहती थी कि वह इस आश्चर्य को अपने अन्दर अनुभव करके देखना चाहती है। मगर सुशील इसके हक में नहीं था। वह नहीं चाहता था कि अभी कुछ साल वे एक बच्चे को अपने घर में आने दें। उससे एक तो उसका फिगर खराब होने का डर था, फिर उसकी नौकरी का भी सवाल था। सुशील नहीं चाहता था कि वह नौकरी छोड़कर बस घर-गृहस्थी के लायक ही हो रहे। साल-छः महीने में सुशील को अपनी बहन उम्मी का ब्याह करना था। उसके दो छोटे भाई कालेज में पढ़ रहे थे। उन दिनों उनके लिए एक-एक पैसे की अपनी कीमत थी। वह कम से कम चार-पांच साल एहतियात से चलना चाहता था। हज़ार चाहने पर भी वह सुशील के सामने हठ नहीं कर सकी थी। मगर जब भी सुशील के हाथ उसको सहला रहे होते, तो एक अज्ञात शिशु उसकी बांहों में आने के लिए मचलने लगता। वह जैसे उसकी किलकारियां सुनती और उसके कोमल शरीर के स्पर्श का अनुभव करती। ऐसे क्षणों में कई बार

सुशील का चेहरा उसके लिए बच्चे का चेहरा बन जाता और वह उसे अच्छी तरह अपने साथ सटा लेती। उसका मन होता कि उसे थपथपाए और उसे लोरियां दे।

सुशील की चिट्ठी आए इस बार बहुत दिन हो गए थे। उसने उसे लिखा भी था कि वह जल्दी जवाब दिया करे, क्योंकि उसकी चिट्ठी न आने से अपना अकेलापन उसके लिए असह्य हो जाता है। कई दिनों से वह सोच रही थी कि सुशील को दूसरी चिट्ठी लिखे, मगर स्वाभिमान उसे इससे रोकता था। क्या सुशील को इतनी फ़ुर्सत भी नहीं थी कि उसे कुछ पंक्तियां ही लिख दे?

हवा का तेज़ झोंका आया। देवदारों की सरसराहट कई-कई घाटियां पार करती दूर के आकाश में जाकर खो गई। सामने की पहाड़ी के साथ-साथ रोशनी के दो दायरे रेंगते आ रहे थे। शायद पठानकोट से आखिरी बस आ रही थी। चांदनी में गेट की मोटी सलाखें चमक रही थीं। हवा धक्के दे-देकर जैसे गेट का ताला तोड़ देना चाहती थी। मनोरमा ने एक लंबी सांस ली और अन्दर को चल दी। वह अपने को उस समय रोज़ से कहीं ज्यादा अकेली महसूस कर रही थी।

अगली शाम मनोरमा घूमकर लौटी, तो कम्पाउण्ड में दाखिल होते ही ठिठक गई। काशी के क्वार्टर से बहुत शोर सुनाई दे रहा था। अजुध्या ज़ोर से गाली बकता हुआ काशी को पीट रहा था। काशी गला फाड़-फाड़कर रो रही थी। मनोरमा गुस्से से भन्ना उठी। कमेटी के नियम के मुताबिक किसी मर्द को स्कूल की चारदीवारी में रात को ठहरने की इजाज़त नहीं थी। उसने खास रियायत करके उसे वहां ठहरने की इजाजत दी थी। और वह आदमी था कि वहां रहकर इस तरह की हरकत कर रहा था! मनोरमा का ध्यान काशी को पड़ती मार की तरफ नहीं गया—इसी तरफ गया कि जो कुछ हो रहा है, उसमें स्कूल की बदनामी है, और स्कूल की बदनामी का मतलब है हेड मिस्ट्रेस की बदनामी।···

वह तेज़ी से क्वार्टर की सीढ़ियां चढ़ गई। खट्-खट्-खट्!—उसके सेंडिल लकड़ी के ज़ीने पर आवाज़ कर उठे। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। काशी को बुलाकर कहे कि अजुध्या को फौरन वहां से भेज दे? या अजुध्या को ही बुलाकर डांटे और कहे कि वह सुबह होने तक वहां से चला

जाए ?

बरामदे में पैर रखते ही उसने देखा कि कुन्ती एक कोने में सहमी-सी बैठी है और डरी हुई आंखों से नीचे की तरफ देख रही है। जैसे उसकी मां को पड़ती मार की चोट उसे भी लग रही हो। मनोरमा सोच नहीं सकी कि वह लड़की उस वक्त उसके क्वार्टर में क्यों बैठी है।

"क्या बात है ?" उसने अपना गुस्सा दबाकर पूछा।

"मां ने कहा था आपको रोटी खिला दूं।..." कुन्ती उसकी तरफ इस तरह डरी-डरी आंखों से देखने लगी जैसे उसे आशंका हो कि बहनजी अभी उसे बांह से पकड़ लेंगी और उसे पीटने लगेंगी।

"तू मुझे रोटी खिलाएगी ?"

कुन्ती ने उसी डरे हुए भाव से सिर हिला दिया।

"तुम्हारे क्वार्टर में यह क्या हो रहा है ?" मनोरमा ने ऐसे पूछा जैसे जो हो रहा था, उसके लिए कुन्ती भी कुछ हद तक उत्तरदायी हो। कुन्ती के होंठ फड़कने लगे और दो बूंदें आंखों से नीचे बह आईं।

"वह किस बात के लिए तेरी मां को पीट रहा है ?" मनोरमा ने फिर पूछा।

कुन्ती ने कमीज़ से आंखें पोंछीं और अपनी रुलाई दबाए हुए बोली, "उसने मां के ट्रंक से सारे पैसे निकाल लिए हैं। मां ने उसका हाथ रोका, तो उसे पीटने लगा।"

"इस आदमी का दिमाग खराब है !" मनोरमा गुस्से से भड़क उठी। "अभी यहां से निकालकर बाहर करूंगी तो इसके होश दुरुस्त हो जाएंगे।"

कुन्ती कुछ देर सुबकती रही। फिर बोली, "कहता है मां ने ठेकेदारों से अलग से पैसे ले-लेकर अपने पास जमा किए हैं। इस बार उसने दो सौ में ठेका दिया है। मां के पास अपने साठ-सत्तर रुपये थे। वे सब उसने ले लिये हैं।"

कुन्ती के भाव में कुछ ऐसी दयनीयता थी कि मनोरमा ने उसके मैले कपड़ों की चिन्ता किए बिना ही उसे अपने से सटा लिया।

"रोती क्यों है ?" उसने उसकी पीठ सहलाते हुए कहा। "मैं अभी उससे तेरी मां के रुपये ले दूंगी। तू चल अन्दर।"

रसोईघर में जाकर मनोरमा ने खुद कुन्ती का मुंह धो दिया और मोढ़ा

लेकर बैठ गई। कुन्ती ने प्लेट में रोटी दे दी, तो वह चुपचाप खाने लगी। वही खाना काशी ने बनाया होता, तो वह गुस्से से चिल्ला उठती। सब चपातियों की सूरतें अलग-अलग थीं, और वे आधी कच्ची और आधी जली हुई थीं। दाल के दाने पानी से अलग थे। मगर उस वक्त वह मशीनी ढंग से रोटी के कौर तोड़ती और दाल में भिगोकर निगलती रही—उसी तरह जैसे रोज़ दफ्तर में बैठकर कागज़ों पर दस्तखत करती थी, या अध्यापिकाओं की शिकायत सुनकर उन्हें जवाब देती थी। कुन्ती ने बिना पूछे एक और रोटी उसकी प्लेट में डाल दी, तो वह थोड़ा चौंक गई।

"नहीं, और नहीं चाहिए," कहते हुए उसने इस तरह हाथ बढ़ा दिया, जैसे रोटी अभी प्लेट में पहुंची न हो। फिर अनमने भाव से छोटे-छोटे कौर तोड़ने लगी।

नीचे शोर बन्द हो गया था। कुछ देर बाद गेट के खुलने और बन्द होने की आवाज़ सुनाई दी। उसने सोचा कि अजुध्या कहीं बाहर जा रहा है। कुन्ती रोटीवाला डब्बा बन्द कर रही थी। वह उससे बोली, "नीचे जाकर अपनी मां से कह देना कि गेट को वक्त से ताला लगा दे। रात-भर गेट खुला न रहे।"

कुन्ती चुपचाप सिर हिलाकर काम करती रही।

"और कहना कि थोड़ी देर में ऊपर हो जाए।"

उसका स्वर फिर रूखा हो गया था। कुन्ती ने एक बार इस तरह उसकी तरफ देखा जैसे वह उसकी किताब का एक मुश्किल सबक हो जो बहुत कोशिश करने पर भी समझ में न आता हो। फिर सिर हिलाकर काम में लग गई।

रात को काफी देर तक काशी मनोरमा के पास बैठी रही। उसे इस बात की उतनी शिकायत नहीं थी कि अजुध्या ने उसके ट्रंक से उसके रुपये निकाल लिए, जितनी इस बात की थी कि अजुध्या तीन साल बाद आया भी तो बच्चों के लिए कुछ लेकर नहीं आया। वह उसे बताती रही कि उसकी सौत ने किसी संत से वशीकरण ले रखा है। तभी अजुध्या उसकी कोई बात नहीं टालता। वह जिस ज्योतिषी से पूछने गई थी, उसने उसे बताया था कि अभी सात साल तक वह वशीकरण नहीं टूट सकता। मगर उसने यह भी कहा था कि एक दिन

रोमांचित करता कि शरीर में एक जड़ता-सी छा जाती। कुछ देर वह खिड़की की सिल पर सिर रखे चारपाई पर बैठी रही। क्षण-भर के लिए आंखें मुंद जातीं, तो खिड़की की सिल सुशील की छाती का रूप ले लेती। उसे महसूस होता कि हवा उसे दूर, बहुत दूर लिए जा रही है—चीड़ों-देवदारों के जंगल और रावी के पानी के उस तरफ!··· जब वह खिड़की के पास से हटकर चारपाई पर लेटी, तो रोशनदान से छनकर आती चांदनी का एक चौकोर टुकड़ा साथ की चारपाई पर सोई कुन्ती के चेहरे पर पड़ रहा था। मनोरमा चौंक गई। कुन्ती पहले कभी उसे उतनी सुन्दर नहीं लगी थी। उसके पतले-पतले होंठ आम की लाल-लाऊ नन्ही पत्तियों की तरह खुले थे। उसे और पास से देखने के लिए वह कुहनियों के बल उसकी चारपाई पर झुक गई। फिर सहसा उसने उसे चूम लिया। कुन्ती सोई-सोई एक बार सिहर गई।

मनोरमा तकिये पर सिर रखे देर तक छत की तरफ देखती रही। जब हल्की-हल्की नींद आंखों पर छाने लगी, तो वह गेट के खुलने और बन्द होने की आवाज़ से चौंक गई। कुछ ही देर में काशी के क्वार्टर से फिर अजुध्या के बड़बड़ाने की आवाज़ सुनाई देने लगी। वह उस समय शराब पिए हुए था। मनोरमा के शरीर में फिर एक बार गुस्से की झुरझुरी उठी। उसने अच्छी तरह अपने को कम्बलों में लपेटकर उस आवाज़ को भुला देने का प्रयत्न किया। मगर नींद आ जाने पर भी वह आवाज़ उसके कानों में गूंजती रही।···

दो दिन बाद अजुध्या चला गया, तो मनोरमा ने आराम की सांस ली। उसे रह-रहकर लगता था कि किसी भी क्षण वह अपने पर काबू खो देगी, और चपरासी से धक्के दिलाकर उस आदमी को स्कूल के कम्पाउंड से निकलवा देगी। वह आदमी शक्ल से ही कमीना नजर आता था। उसके बड़े-बड़े मैले दांत, काले होंठ और खूंखार जानवर जैसी चुभती आंखें देखकर लगता था कि उस आदमी को ऐसी शक्ल के लिए ही उम्र कैद की सजा होनी चाहिए। उसके चले जाने के बाद उसका मन काफी हल्का हो गया। दफ्तर के कुछ काम जो वह कई दिनों से टाल रही थी, उसने उसी दिन बैठकर पूरे कर दिए। उस दिन शाम की डाक से उसे सुशील की चिट्ठी भी मिल गई।

उसने चिट्ठी दफ्तर में नहीं खोली। स्टेनो से और चिट्ठियों का डिक्टेशन अगले दिन लेने के लिए कहकर क्वार्टर में चली आई। चारपाई पर बैठकर उसने

पेपर नाइफ से धीरे-धीरे लिफाफा खोला—जैसे उसे चोट न पहुंचाना चाहती हो। चिट्ठी दफ्तर के कागज़ पर बहुत जल्दी-जल्दी लिखी गई थी। मनोरमा को अच्छा नहीं लगा, मगर फिर भी उससे एक-एक पंक्ति उत्सुकता के साथ पढ़ी। सुशील ने लिखा था कि जल्दी ही एक जगह उम्मी की सगाई तय हो रही है। लड़का अच्छी नौकरी पर है, सभी ने यह रिश्ता पसन्द किया है। हो सके तो वह उम्मी की शाल जल्दी भेज दे। अब उम्मी के ब्याह के लिए भी उन लोगों को कुछ पैसे बचाकर रखने चाहिए। अन्त में उसने उसे अपनी सेहत का ध्यान रखने को लिखा था। मधुर आलिंगन तथा अनेकानेक चुम्बनों के साथ चिट्ठी समाप्त हुई थी।

मनोरमा काफी देर चिट्ठी हाथ में लिये बैठी रही। उसे पढ़कर मधुर आलिंगन और अनेकानेक चुम्बनों का कुछ भी स्पर्श महसूस नहीं हुआ था। ऐसे लगा था जैसे वह एक चश्मे से पानी पीने के लिए झुकी हो और उसके होंठ गीले रेत से छूकर रह गए हों। चिट्ठी उसने ड्राअर में डाल दी और दफ्तर में लौट गई।

रात को खाना खाने के बाद वह चिट्ठी का जवाब लिखने बैठी। मगर कलम हाथ में लेते ही दिमाग जैसे बिलकुल खाली हो गया। उसे लगा कि उसके पास लिखने के लिए कुछ भी नहीं है। पहली पंक्ति लिखकर वह देर तक कागज़ को नाखून से कुरेदती रही। आखिर बहुत सोचकर उसने कुछ पंक्तियां लिखीं। पढ़ने पर उसे लगा कि वह चिट्ठी उन चिट्ठियों से खास अलग नहीं, जो वह दफ्तर में बैठकर क्लर्क को डिक्टेट कराया करती है। चिट्ठी में बात इतनी ही थी कि उसे इस बात का अफसोस है कि वह शाल और कोट का कपड़ा अभी नहीं भेज पाई। जल्दी ही वह ये दोनों चीज़ें भेज देगी। और अन्त में उसकी तरफ से भी मधुर आलिंगन और अनेकानेक चुम्बन!…

रात को वह देर तक सोचती रही कि कौन-कौन-सा खर्च कम करके वह चालीस-पचास रुपया महीना और बचा सकती है। दूध पीना बन्द कर दे? कपड़े खुद धोया करे? काशी से काम छुड़ाकर रोटी खुद बनाया करे? ज़्यादा खर्च तो काशी की वजह से ही होता था। वह चीज़ें मांगकर भी ले जाती थी और चुराकर भी। मगर उसने पहले भी आज़माकर देखा था कि वह स्कूल

का काम करती हुई साथ अपनी रोटी नहीं बना सकती। ऐसे मौकों पर या तो वह दूध-डबलरोटी खाकर रह जाती थी या कुछ भी छौंक-भूनकर पेट भर लेती थी।

अगले दिन से उसने खाने-पीने में कई तरह की कटौतियां कर दीं। काशी से कह दिया कि दूध वह सिर्फ चाय के लिए ही लिया करे और दाल-सब्ज़ी में घी बहुत कम इस्तेमाल किया करे। बिस्कुट और फल भी उसने बन्द कर दिए। कुछ दिन तो बचत के उत्साह में निकल गए, मगर फिर उसे अपने स्वास्थ्य पर इन कटौतियों का असर दिखाई देने लगा। दो बार क्लास में पढ़ाते हुए उसे चक्कर आ गया। मगर उसने अपना हठ नहीं छोड़ा। उस महीने की तनखाह मिलने पर उसने शाल के लिए चालीस रुपये अलग निकालकर रख दिए। रुपये रखते समय उसके चेहरे का भाव ऐसा था जैसे सुशील उसके सामने खड़ा हो और वह उसे चिढ़ाना चाहती हो कि देख लो इस तरह की बचत से शाल और कोट के कपड़े खरीदे जाते हैं। उन दिनों उसके स्वभाव में वैसे भी कुछ चिड़चिड़ापन आ गया था। वह बात-बेबात हरएक पर झल्ला उठती थी।

एक दिन स्कूल जाने से पहले वह आईने के सामने खड़ी हुई, तो कुछ चौंक गई। उसे लगा कि उसके चेहरे का रंग काफी पीला पड़ गया है। उस दिन दफ्तर में बैठे हुए उसके सिर में सख्त दर्द हो आया और वह बारह बजे से पहले ही उठकर क्वार्टर में आ गई। बरामदे में पहुंचकर उसने देखा कि काशी उसके पैरों की आवाज़ सुनते ही जल्दी से आलमारी बन्द करके चूल्हे की तरफ गई है। उसने रसोईघर में जाकर आलमारी खोल दी।

घी का डब्बा खुला पड़ा था और उसमें उंगलियों के निशान बने थे। मनोरमा ने काशी की तरफ देखा। उसके मुंह पर कच्चे घी की कनियां लगी थीं और वह ओट करके अपनी उंगलियां दोपट्टे से पोंछ रही थी। मनोरमा एकदम आपे से बाहर हो गई। पास जाकर उसने उसे चोटी से पकड़ लिया।

"चोट्टी!" उसने चिल्लाकर कहा। "मैं इसीलिए सूखी सब्ज़ी खाती हूं कि तू कच्चा घी हज़म किया करे? शरम नहीं आती कमज़ात? जा, अभी निकल जा यहां से। मैं आज से तेरी सूरत भी नहीं देखना चाहती।" उसने उसकी पीठ पर एक लात जमा दी। काशी औंधे मुंह गिरने को हुई, मगर अपने हाथों

के सहारे संभल गई। पल-भर वह दर्द से आंखें मूंदे रही। फिर उसने मनोरमा के पैर पकड़ लिए। मुंह से उससे कुछ नहीं कहा गया।

"मैं तुझे चौबीस घंटे का नोटिस दे रही हूं।" मनोरमा ने पैर छुड़ाते हुए कहा। "कल इस वक्त तक स्कूल का क्वार्टर खाली हो जाना चाहिए। सुबह ही क्लर्क तेरा हिसाब कर देगा। उसके बाद तूने इस कम्पाउंड में कदम भी रखा तो···" और वह हटकर वहां से जाने लगी। काशी ने बढ़कर फिर उसके पैर पकड़ लिए।

"बहनजी, पैर छू रही हूं, माफी दे दो।" उसने मुश्किल से कहा। मनोरमा ने फिर भी पैर झटके से छुड़ा लिए। उसका एक पैर पीछे पड़ी चायदानी को जा लगा। चायदानी टूट गई। बिखरते टुकड़ों की आवाज़ ने क्षण-भर के लिए दोनों को स्तब्ध कर दिया। फिर मनोरमा ने अपना निचला होंठ काटा और दनदनाती हुई वहां से निकल गई। कमरे में आकर उसने माथे पर बाम लगाया और सिर-मुंह लपेटकर लेट गई।

शाम की डाक से फिर सुशील की चिट्ठी मिली। उसमें वही सब बातें थीं। उम्मी की सगाई हो गई थी। पिछले इतवार वे लोग उस लड़के के साथ पिकनिक पर गए थे। उम्मी ने एक कोने में कुछ पंक्तियां लिखकर खुद अपनी शाल के लिए अनुरोध किया था। साथ यह भी लिखा था कि भाभी को सब लोग बहुत-बहुत याद करते हैं। पिकनिक के दिन तो उन्होंने उसे बहुत ही मिस किया।

चिट्ठी पढ़ने के बाद वह बड़े राउंड पर घूमने निकल गई। मन में बहुत झुंझलाहट भर रही थी। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह झुंझलाहट काशी पर है, अपने पर, या सुशील पर। न जाने क्यों उसे लगा कि सड़क पर कंकड़-पत्थर पहले से कहीं ज्यादा हैं, और वह गोल सड़क न जाने कितनी लम्बी हो गई है। रास्ते में दो बार उसे थककर पत्थरों पर बैठना पड़ा। घर से एक-डेढ़ फर्लांग पहले उसकी चप्पल टूट गई। वह रास्ता बहुत मुश्किल से कटा। उसे लगा, न जाने कब से वह घिसटती हुई उस गोल सड़क पर चल रही है और आगे भी न जाने कब तक उसे इसी तरह चलते रहना है।···

गेट के पास पहुंचकर सुबह की घटना फिर उसके दिमाग में ताज़ा हो आई। काशी के क्वार्टर में फिर खामोशी छाई थी। मनोरमा को एक क्षण-से

लिए ऐसा महसूस हुआ कि काशी क्वार्टर खाली करके चली गई है और उस बड़े कम्पाउंड में उस समय वह बिलकुल अकेली है। उसका मन सिहर गया। उसने कुन्ती को आवाज़ दी। कुन्ती लालटेन लिये अपने क्वार्टर से बाहर निकल आई।

"तेरी मां कहां है?" मनोरमा ने पूछा।

"अन्दर है।" और कुन्ती ने एक बार अन्दर की तरफ देख लिया।

"क्या कर रही है?"

"कुछ नहीं कर रही। बैठी है।"

मनोरमा ने देखा काशी का क्वार्टर काफी खस्ता हालत में है। दरवाज़े का चौखट काफी कमज़ोर पड़ गया था जिससे दरवाज़ा निकलकर बाहर आ जाने को था। रोज़ वह उस क्वार्टर के सामने से कई-कई बार गुज़रती थी, रोज़ ही उस दरवाज़े को देखती थी, मगर पहले कभी उसका ध्यान उस पर नहीं रुका था।

"इस क्वार्टर में काफी मरम्मत की ज़रूरत है।" कहकर वह जैसे क्वार्टर का मुआइना करने के लिए अन्दर चली गई। काशी उसे देखते ही उठकर उसके पास आ गई। मनोरमा ने एक बार उसकी तरफ देख लिया मगर उससे कोई बात नहीं की। क्वार्टर की दीवारें पीली पड़कर अब स्याह होने लगी थीं। एक रोशनदान भी दीवार से निकलकर नीचे गिर आने को था। छत में चारों तरफ मकड़ी के जाले लगे थे जो आपस में मिलकर एक बड़े-से चंदोवे का रूप लिए थे। कमरे में जो थोड़ा-बहुत सामान था, वह इधर-उधर अस्त-व्यस्त पड़ा था। एक तरफ तीन बच्चे एक ही थाली में रोटी खा रहे थे। वही पानी जैसी दाल थी जो एक दिन कुन्ती ने उसके लिए बनाई थी और अलग-अलग सूरतों वाली खुश्क रोटियां!... उसे देखकर बच्चों के हाथ और मुंह चलने बन्द हो गए। सबसे छोटा लड़का जो करीब चार साल का था, लोई में लिपटा एक कोने में लेटा था। उसकी आंखें मनोरमा के साथ-साथ कमरे में घूम रही थीं।

"परसू को क्या हुआ है? बीमार है?" मनोरमा ने बिना काशी की तरफ देखे जैसे दीवार से पूछा और बच्चे के पास चली गई। परसू अपने पैर के अंगूठे की सीध में देखने लगा।

"इसे सूखा हो गया है।" काशी ने धीरे-से कहा।

मनोरमा ने बच्चे के गालों को सहलाया और उसके सिर पर हाथ फेर दिया।

"डाक्टर को दिखाया है ?" उसने पूछा।

"दिखाया था।" काशी ने कहा। "उसने दस टीके बताए हैं। दो-दो रुपये का एक टीका आता है।" बोलते-बोलते उसका गला भर आया।

"लगवाए नहीं ?" अब मनोरमा ने उसकी तरफ देखा।

"कैसे लगवाती ?" काशी की आंखें ज़मीन की तरफ झुक गईं। "जितने रुपये थे वे सब तो वह निकालकर ले गया था।···मैं इसे कांसे की कटोरी मलती हूं। कहते हैं उससे ठीक हो जाता है।"

बच्चा बिटर-बिटर उन दोनों की तरफ देख रहा था। मनोरमा ने एक बार फिर उसके गाल को सहला दिया और बाहर को चल दी। कुन्ती दहलीज़ के पास खड़ी थी। वह रास्ता छोड़कर हट गई।

"इस क्वार्टर में अभी सफेदी होनी चाहिए।" मनोरमा ने चलते-चलते कहा, "यहां की हवा में तो अच्छा-भला आदमी बीमार हो सकता है।"

काशी के क्वार्टर से निकलकर वह धीरे-धीरे अपने क्वार्टर का ज़ीना चढ़ी। ठक्-ठक् की गूंजती आवाज़, अकेला बरामदा, कमरा। कमरे में जो चीज़ें वह बिखरी छोड़ गई थी, वे अब करीने से रखी थीं। बीच की मेज पर रोटी की ट्रे ढककर रख दी गई थी। केतली में पानी भरकर स्टोव पर रख दिया गया था। कोट उतारकर शाल ओढ़ते हुए उसने बरामदे में पैरों की आवाज़ सुनी। काशी चुपचाप आकर दरवाज़े के पास खड़ी हो गई।

"क्या बात है ?" मनोरमा ने रूखी आवाज़ में पूछा।

"रोटी खिलाने आई हूं।" काशी ने धीमी ठहरी हुई आवाज़ में कहा। "चाय का पानी भी तैयार है। कहें तो पहले चाय बना दूं।"

मनोरमा ने एक बार उसकी तरफ देखा और आंखें हटा लीं। काशी ने कमरे में आकर प्लग का बटन दबा दिया। पानी आवाज़ करने लगा।

मनोरमा एक किताब लेकर बैठ गई। थोड़ी देर में काशी चाय की प्याली बनाकर उसके पास ले आई। मनोरमा ने किताब बन्द कर दी और हाथ बढ़ाकर प्याली ले ली। काशी के होंठों पर सूखी-सी मुसकराहट आ गई।

"बहनजी, कभी नौकर से गलती हो जाए तो इतना गुस्सा नहीं करते।"

उसने कहा।

"रहने दे ये सब बातें !" मनोरमा ने झिड़ककर कहा। "आदमी से एक बार कही जाए तो उसे लग जाती है। मगर तेरे जैसे लोग भी हैं जिन्हें बात कभी छूती ही नहीं। बच्चे सूखी दाल-रोटी खाकर रहते हैं और मां को खाने को कच्चा घी चाहिए। ऐसी मां किसीने नहीं देखी होगी।"

काशी का चेहरा ऐसे हो गया जैसे किसीने उसे अन्दर से चीर दिया हो। उसकी आंखों में आंसू भर आए।

"बहनजी, इन बच्चों को पालना न होता, तो मैं आज आपको जीती नज़र न आती।" उसने कहा। "एक अभागा भूखे पेट से जन्मा था, वह सूखे से पड़ा है। अब दूसरा भी उसी तरह आएगा तो उसे जाने क्या रोग लगेगा !"

मनोरमा को जैसे किसीने ऊंचे से धकेल दिया। चाय के घूंट भरते हुए भी उसके शरीर में कई ठंडी सिहरनें भर गईं। वह पल-भर चुप रहकर काशी की तरफ देखती रही।

"तेरे पैर फिर भारी हैं ?" उसने ऐसे पूछा जैसे उसे इसपर विश्वास ही न आ रहा हो।

काशी के चेहरे पर जो भाव आया उसमें नई ब्याहता का-सा संकोच भी था और एक हताश झुंझलाहट भी। उसने सिर हिलाया और एक ठण्डी सांस लेकर दरवाज़े की तरफ देखने लगी। मनोरमा को पल-भर के लिए लगा कि अजुध्या उसके सामने खड़ा मुसकरा रहा है। उसने चाय की प्याली पीकर रख दी। काशी प्याली उठाकर बाहर ले गई। मनोरमा को लगा कि उसकी बांहें ठण्डी होती जा रही हैं। उसने शाल को पूरा खोलकर अच्छी तरह लपेट लिया। काशी बाहर से लौट आई।

"रोटी कब खाएगी ?" उसने पूछा।

मगर मनोरमा ने जवाब देने की जगह उससे पूछ लिया, "डाक्टर ने कहा था कि दस टीके लगवाने से बच्चा ठीक हो जाएगा ?"

काशी ने खामोश रहकर सिर हिलाया और दूसरी तरफ देखने लगी।

"मैं तुझे बीस रुपये दे रही हूं।" मनोरमा ने कुर्सी से उठते हुए कहा। "कल जाकर टीके ले आना।"

उसने ट्रंक से अपना बटुआ निकाला और बीस रुपये निकालकर मेज़ पर

रख दिए। उसे आश्चर्य हो रहा था कि उसकी बांहें इस कदर ठंडी क्यों हो गई हैं। उसने बांहों को अच्छी तरह अपने में सिकोड़ लिया।

खाना खाने के बाद वह देर तक बरामदे में कुर्सी डालकर बैठी रही। उसे महसूस हो रहा था कि उसके सारे शरीर में एक अजीब-सी सिहरन दौड़ रही है। वह ठीक से नहीं समझ पा रही थी कि वह सिहरन क्या है और क्यों शरीर के हर रोम में उसका अनुभव हो रहा है। जैसे उस सिहरन का सम्बन्ध किसी बाहरी चीज़ से न होकर उसके अपने-आप से ही था; जैसे उसी की वजह से उसे अपना-आप बिलकुल खाली लग रहा था। हवा बहुत तेज़ थी और देवदार का जंगल जैसे धुनता हुआ कराह रहा था। हुआं···हुआं···हुआं!···हवा के झोंके उमड़ती लहरों की तरह शरीर को घेर लेते थे और शरीर उनमें बेबस-सा हो जाता था। उसने शाल को कसकर बांहों पर लपेट लिया। लोहे का गेट हवा के धक्के खाता हुआ आवाज़ कर रहा था। पल-भर के लिए उसकी आंखें मुंद गईं, तो उसे लगा कि अजुध्या अपने स्याह होंठ खोले उसके सामने खड़ा मुसकरा रहा है और लोहे का गेट चीखता हुआ धीरे-धीरे खुल रहा है। उसने सिहरकर आंखें खोल लीं और अपने माथे को छुआ। माथा बर्फ की तरह ठण्डा था। वह कुर्सी से उठ खड़ी हुई। उठते हुए शाल कंधे से उतर गया और साड़ी का पल्ला हवा में फड़फड़ाने लगा। बालों की कई लटें उड़कर सामने आ गईं और उसके माथे को सहलाने लगीं।

"कुन्ती!" उसने कमज़ोर स्वर में आवाज़ दी। आवाज़ हवा के समन्दर में कागज़ की नाव की तरह डूब गई।

"कुन्ती!" उसने फिर आवाज़ दी। इस बार काशी अपने क्वार्टर से बाहर निकल आई।

"कुन्ती जाग रही हो, तो उसे मेरे पास भेज दे। आज वह यहीं सो रहेगी।" कहते हुए मनोरमा को महसूस हुआ कि वह किस हद तक काशी और उस के बच्चों पर निर्भर करती है, और उन लोगों का पास होना उसके लिए कितना ज़रूरी है।

"कुन्ती सो गई है, मगर मैं अभी उसे जगाकर भेज देती हूं।" कहकर काशी अपने क्वार्टर में जाने लगी।

उसने कहा।

"रहने दे ये सब बातें !" मनोरमा ने झिड़ककर कहा। "आदमी से एक बार कही जाए तो उसे लग जाती है। मगर तेरे जैसे लोग भी हैं जिन्हें बात कभी छूती ही नहीं। बच्चे सूखी दाल-रोटी खाकर रहते हैं और मां को खाने को कच्चा घी चाहिए। ऐसी मां किसीने नहीं देखी होगी।"

काशी का चेहरा ऐसे हो गया जैसे किसीने उसे अन्दर से चीर दिया हो। उसकी आंखों में आंसू भर आए।

"बहनजी, इन बच्चों को पालना न होता, तो मैं आज आपको जीती नज़र न आती।" उसने कहा। "एक अभागा भूखे पेट से जन्मा था, वह सूखे से पड़ा है। अब दूसरा भी उसी तरह आएगा तो उसे जाने क्या रोग लगेगा !"

मनोरमा को जैसे किसीने ऊंचे से धकेल दिया। चाय के घूंट भरते हुए भी उसके शरीर में कई ठंडी सिहरनें भर गईं। वह पल-भर चुप रहकर काशी की तरफ देखती रही।

"तेरे पैर फिर भारी हैं ?" उसने ऐसे पूछा जैसे उसे इसपर विश्वास ही न आ रहा हो।

काशी के चेहरे पर जो भाव आया उसमें नई व्याहता का-सा संकोच भी था और एक हताश झुंझलाहट भी। उसने सिर हिलाया और एक ठण्डी सांस लेकर दरवाज़े की तरफ देखने लगी। मनोरमा को पल-भर के लिए लगा कि अजुध्या उसके सामने खड़ा मुसकरा रहा है। उसने चाय की प्याली पीकर रख दी। काशी प्याली उठाकर बाहर ले गई। मनोरमा को लगा कि उसकी बांहें ठण्डी होती जा रही हैं। उसने शाल को पूरा खोलकर अच्छी तरह लपेट लिया। काशी बाहर से लौट आई।

"रोटी कब खाएगी ?" उसने पूछा।

मगर मनोरमा ने जवाब देने की जगह उससे पूछ लिया, "डाक्टर ने कहा था कि दस टीके लगवाने से बच्चा ठीक हो जाएगा ?"

काशी ने खामोश रहकर सिर हिलाया और दूसरी तरफ देखने लगी।

"मैं तुझे बीस रुपये दे रही हूं।" मनोरमा ने कुर्सी से उठते हुए कहा। "कल जाकर टीके ले आना।"

उसने ट्रंक से अपना बटुआ निकाला और बीस रुपये निकालकर मेज़ पर

रख दिए। उसे आश्चर्य हो रहा था कि उसकी बांहें इस कदर ठंडी क्यों हो गई हैं। उसने बांहों को अच्छी तरह अपने में सिकोड़ लिया।

खाना खाने के बाद वह देर तक बरामदे में कुर्सी डालकर बैठी रही। उसे महसूस हो रहा था कि उसके सारे शरीर में एक अजीब-सी सिहरन दौड़ रही है। वह ठीक से नहीं समझ पा रही थी कि वह सिहरन क्या है और क्यों शरीर के हर रोम में उसका अनुभव हो रहा है। जैसे उस सिहरन का सम्बन्ध किसी बाहरी चीज़ से न होकर उसके अपने-आप से ही था; जैसे उसी की वजह से उसे अपना-आप बिलकुल खाली लग रहा था। हवा बहुत तेज़ थी और देवदार का जंगल जैसे धुनता हुआ कराह रहा था। हुआं···हुआं···हुआं!···हवा के झोंके उमड़ती लहरों की तरह शरीर को घेर लेते थे और शरीर उनमें बेबस-सा हो जाता था। उसने शाल को कसकर बांहों पर लपेट लिया। लोहे का गेट हवा के धक्के खाता हुआ आवाज़ कर रहा था। पल-भर के लिए उसकी आंखें मुंद गईं, तो उसे लगा कि अजुध्या अपने स्याह होंठ खोले उसके सामने खड़ा मुसकरा रहा है और लोहे का गेट चीखता हुआ धीरे-धीरे खुल रहा है। उसने सिहरकर आंखें खोल लीं और अपने माथे को छुआ। माथा बर्फ की तरह ठण्डा था। वह कुर्सी से उठ खड़ी हुई। उठते हुए शाल कंधे से उतर गया और साड़ी का पल्ला हवा में फड़फड़ाने लगा। बालों की कई लटें उड़कर सामने आ गईं और उसके माथे को सहलाने लगीं।

"कुन्ती!" उसने कमज़ोर स्वर में आवाज़ दी। आवाज़ हवा के समन्दर में कागज़ की नाव की तरह डूब गई।

"कुन्ती!" उसने फिर आवाज़ दी। इस बार काशी अपने क्वार्टर से बाहर निकल आई।

"कुन्ती जाग रही हो, तो उसे मेरे पास भेज दे। आज वह यहीं सो रहेगी।" कहते हुए मनोरमा को महसूस हुआ कि वह किस हद तक काशी और उस के बच्चों पर निर्भर करती है, और उन लोगों का पास होना उसके लिए कितना ज़रूरी है।

"कुन्ती सो गई है, मगर मैं अभी उसे जगाकर भेज देती हूं।" कहकर काशी अपने क्वार्टर में जाने लगी।

"सो गई है, तो रहने दे। जगाकर भेजने की ज़रूरत नहीं।" मनोरमा बरामदे से कमरे में आ गई। कमरे में आकर उसने दरवाज़ा इस तरह बन्द किया जैसे हवा एक ऐसा आदमी हो जिसे वह अन्दर आने से रोकना चाहती हो। वह अपने में बहुत कमज़ोर महसूस कर रही थी। रज़ाई ओढ़कर वह बिस्तर पर लेट गई। उसकी आंखें छत की कड़ियों पर से फिसलने लगीं। वह आंखें बंद नहीं करना चाहती थी। जैसे उसे डर था कि आंखें बन्द करते ही अजुध्या के मुसकराते हुए स्याह होंठ फिर सामने आ जाएंगे। वह अपना ध्यान बंटाने के लिए सोचने लगी कि सुबह सुशील को चिट्ठी में क्या-क्या लिखना है। लिख दे कि यहां अकेली रहकर उसे डर लगता है और वह उसके पास चली आना चाहती है? और''और भी जो इतना कुछ वह महसूस करती है, क्या वह सब उसे लिख पाएगी? लिखकर सुशील को समझा सकेगी कि उसे अपना-आप इतना खाली-खाली क्यों लगता है, और वह अपने इस अभाव को भरने के लिए उससे क्या चाहती है?

माथे पर आई लटें उसने हटाई नहीं थीं। वह हल्का-हल्का स्पर्श उसकी चेतना में उतर रहा था। कुछ ही देर में वह महसूस करने लगी कि साथ की चारपाई पर एक नन्हा-सा बच्चा सोया है, उसके नन्हे-नन्हे होंठ आम की पत्तियों की तरह खुले हैं, और उसके सिर के नरम बाल उड़कर मुंह पर आ रहे हैं। वह कुहनी के बल होकर उस बच्चे को देखती रही—और फिर जैसे उसे मने के लिए उस पर झुक गई।

मगर फरवरी की वह शाम अपने में कुछ अलग-सी थी। हाव में वसन्त का हल्का आभास ज़रूर था और पच्छिम का आकाश भी और दिनों से सुन्दर लग रहा था। साढ़े सात वजते-वजते भूख भी लग आई थी। मैं राहचलते लोगों को देख रहा था और ह्वेल मछलियों की वात सोच रहा था। मन हो रहा था कि कहीं अच्छी करारी मुंगफली मिल जाएं, तो पांच पैसे की ले ली जाएं।

पुकारा किसीने अविनाश को ही था। अपने लिए विश्वास इसलिए भी नहीं हुआ कि आवाज़ किसी लड़की की थी—लड़की की या स्त्री की। दोनों में फर्क होता है, मगर वहुत नहीं। इतने महीन फर्क को समझने के लिए वहुत अभ्यास की ज़रूरत है।

वम्वई शहर और मेरीन ड्राइव की शाम। ऐसे में अपने को पुकारे एक लड़की! होने को कुछ भी हो सकता है, पर अपने साथ अक्सर नहीं होता।

जैसे चल रहा था, दस-वीस कदम और चलता गया। मुड़कर पीछे न देखता, तो न भी देखता। पर अचानक, यों ही, उत्सुकतावश कि जाने अपने को ही किसीने पुकारा हो, घूमकर देख लिया। एक हाथ को अपनी तरफ हिलते देखा, तो अविश्वास और वढ़ गया। वढ़ने के साथ ही अचानक दूर हो गया। चेहरा वहुत परिचित था। पहचानने में उतनी देर नहीं लगी जितनी कि चेहरे से ज़ाहिर थी। दरअसल हैरानी यह हुई कि वह फिर से यहां कैसे!

भेल और नारियल वालों से वचता हुआ उसकी तरफ वढ़ा। आवाज़ देने के वाद वह जहां की तहां रुक गई थी। उसके वाद उसे पहचानने और उस तक पहुंचने की सारी ज़िम्मेदारी जैसे मेरे ऊपर हो। पास पहुंच जाने पर भी अपनी जगह से एकदम नहीं हिली। दूर था, तो वन्द होंठों से मुसकरा रही थी; पास पहुंचा तो खुले होंठों से मुसकराने लगी, वस। भौंहों पर आई-ब्रो पेंसिल की गहराई को चमकाती हुई वोली, "पहचाना नहीं?"

कैसे कहता कि सवाल वेवकूफाना है? न पहचानता तो इतना रास्ता चलकर आता? सिर्फ इतना कहने के लिए कि 'माफ कीजिएगा, मैंने आपको पहचाना नहीं,' कौन तीस गज़ चलकर आता है? मन में जितनी कुढ़न हुई, आवाज़ को उतना ही मुलायम रखकर कहा, "तुम्हें क्या लगता है नहीं पहचाना?"

वह हंस दी, जाने आदत से या खुशी से। मैं मुसकरा दिया विना किसी

भी वजह के।

"पहले से काफी बड़े नज़र आने लगे हो।" उसने कहा और अपना पर्स हिलाने लगी—शायद यह साबित करने के लिए कि वह खुद अभी उतनी ही शोख और कमसिन है। पहले सोचा कि उसे सच-सच बता दूं कि वह कैसी नज़र आती है। पर शराफत के तकाज़े से वही बात कह दी जो वह सुनना चाहती थी, "तुममें इस बीच खास फर्क नहीं आया।"

वह फिर हंस दी। मैं फिर मुसकरा दिया, पर इस बार बिना वजह के नहीं।

उसने पर्स हिलाना बन्द कर दिया और उसमें से मुंगफली निकाल ली। कुछ दाने मुंह में डाल लिए और बाकी मेरी तरफ बढ़ाकर बोली, "अब तक अकेले ही हो?"

जल्दी में कोई जवाब नहीं सूझा। पहले चाहा कि झूठ बोल दूं। फिर सोचा कि सच बता दूं। मगर मन ने झूठ-सच दोनों के लिए हामी नहीं भरी। कहीं से यह घिसी-पिटी बात लाकर ज़बान पर रख दी, "अकेला तो वह होता है जो अकेलेपन को महसूस करे।"

उसे पर्स में और दाने नहीं मिल रहे थे। कुछ देर इधर-उधर टटोलती रही। किसी कोने में दो-चार दाने हाथ लग गए, तो उसकी आंखें खुशी से चमक उठीं, निकालकर एक-एक करके चबाने लगी।

उसके दांत अब भी उसी तरह तीखे थे। मुंगफली निगलते हुए गरदन पर उसी तरह लकीरें बनती थीं। "अच्छा है, तुम महसूस नहीं करते!" उसने कहा और दाने चबाती रही।

मैं उसका नाम याद करने की कोशिश कर रहा था। बहुत दिन वह नाम ज़बान पर रहा था। ऐसे नामों में से था, जो कि बहुत-सी लड़कियों का होता है। हर तीसरे घर में उस नाम की एक लड़की मिल जाती है। उन दिनों, छः-सात साल पहले, लगातार बीस-बाईस दिन उन लोगों से मिलना-जुलना रहा था। वे दो बहनें थीं, हालांकि शक्ल-सूरत से कज़िन भी नहीं लगती थीं। बड़ी के चेहरे की हड्डियां चौकोर थीं, छोटी के चेहरे की सलीबनुमा। रंग दोनों का गोरा था, मगर छोटी ज़्यादा गोरी लगती थी। आंखें दोनों की बड़ी-बड़ी थीं, मगर छोटी की ज़्यादा बड़ी जान पड़ती थीं। बातूनी दोनों ही थीं, पर

मगर फरवरी की वह शाम अपने में कुछ अलग-सी थी। हाव में वसन्त का हल्का आभास ज़रूर था और पच्छिम का आकाश भी और दिनों से सुन्दर लग रहा था। साढ़े सात बजते-वजते भूख भी लग आई थी। मैं राहचलते लोगों को देख रहा था और ह्वेल मछलियों की बात सोच रहा था। मन हो रहा था कि कहीं अच्छी करारी मुंगफली मिल जाएं, तो पांच पैसे की ले ली जाएं।

पुकारा किसीने अविनाश को ही था। अपने लिए विश्वास इसलिए भी नहीं हुआ कि आवाज़ किसी लड़की की थी—लड़की की या स्त्री की। दोनों में फर्क होता है, मगर वहुत नहीं। इतने महीन फर्क को समझने के लिए वहुत अभ्यास की ज़रूरत है।

वम्वई शहर और मेरीन ड्राइव की शाम। ऐसे में अपने को पुकारे एक लड़की! होने को कुछ भी हो सकता है, पर अपने साथ अक्सर नहीं होता।

जैसे चल रहा था, दस-वीस कदम और चलता गया। मुड़कर पीछे न देखता, तो न भी देखता। पर अचानक, यों ही, उत्सुकतावश कि जाने अपने को ही किसीने पुकारा हो, घूमकर देख लिया। एक हाथ को अपनी तरफ हिलते देखा, तो अविश्वास और वढ़ गया। वढ़ने के साथ ही अचानक दूर हो गया। चेहरा वहुत परिचित था। पहचानने में उतनी देर नहीं लगी जितनी कि चेहरे से ज़ाहिर थी। दरअसल हैरानी यह हुई कि वह फिर से यहां कैसे!

भेल और नारियल वालों से वचता हुआ उसकी तरफ वढ़ा। आवाज़ देने के बाद वह जहां की तहां रुक गई थी। उसके बाद उसे पहचानने और उस तक पहुंचने की सारी ज़िम्मेदारी जैसे मेरे ऊपर हो। पास पहुंच जाने पर भी अपनी जगह से एकदम नहीं हिली। दूर था, तो वन्द होंठों से मुसकरा रही थी; पास पहुंचा तो खुले होंठों से मुसकराने लगी, वस। भौंहों पर आई-ब्रो पेंसिल की गहराई को चमकाती हुई वोली, "पहचाना नहीं?"

कैसे कहता कि सवाल वेवकूफाना है? न पहचानता तो इतना रास्ता चलकर आता? सिर्फ इतना कहने के लिए कि 'माफ कीजिएगा, मैंने आपको पहचाना नहीं,' कौन तीस गज़ चलकर आता है? मन में जितनी कुढ़न हुई, आवाज़ को उतना ही मुलायम रखकर कहा, "तुम्हें क्या लगता है नहीं पहचाना?"

वह हंस दी, जाने आदत से या खुशी से। मैं मुसकरा दिया बिना किसी

भी वजह के।

"पहले से काफी बड़े नज़र आने लगे हो।" उसने कहा और अपना पर्स हिलाने लगी—शायद यह साबित करने के लिए कि वह खुद अभी उतनी ही शोख और कमसिन है। पहले सोचा कि उसे सच-सच बता दूं कि वह कैसी नज़र आती है। पर शराफत के तकाज़े से वही बात कह दी जो वह सुनना चाहती थी, "तुममें इस बीच खास फर्क नहीं आया।"

वह फिर हंस दी। मैं फिर मुसकरा दिया, पर इस बार बिना वजह के नहीं।

उसने पर्स हिलाना बन्द कर दिया और उसमें से मुंगफली निकाल ली। कुछ दाने मुंह में डाल लिए और बाकी मेरी तरफ बढ़ाकर बोली, "अब तक अकेले ही हो?"

जल्दी में कोई जवाब नहीं सूझा। पहले चाहा कि झूठ बोल दूं। फिर सोचा कि सच बता दूं। मगर मन ने झूठ-सच दोनों के लिए हामी नहीं भरी। कहीं से यह घिसी-पिटी बात लाकर ज़बान पर रख दी, "अकेला तो वह होता है जो अकेलेपन को महसूस करे।"

उसे पर्स में और दाने नहीं मिल रहे थे। कुछ देर इधर-उधर टटोलती रही। किसी कोने में दो-चार दाने हाथ लग गए, तो उसकी आंखें खुशी से चमक उठीं, निकालकर एक-एक करके चबाने लगी।

उसके दांत अब भी उसी तरह तीखे थे। मुंगफली निगलते हुए गरदन पर उसी तरह लकीरें बनती थीं। "अच्छा है, तुम महसूस नहीं करते!" उसने कहा और दाने चबाती रही।

मैं उसका नाम याद करने की कोशिश कर रहा था। बहुत दिन वह नाम ज़बान पर रहा था। ऐसे नामों में से था, जो कि बहुत-सी लड़कियों का होता है। हर तीसरे घर में उस नाम की एक लड़की मिल जाती है। उन दिनों, छः-सात साल पहले, लगातार बीस-बाईस दिन उन लोगों से मिलना-जुलना रहा था। वे दो बहनें थीं, हालांकि शक्ल-सूरत से कज़िन भी नहीं लगती थीं। बड़ी के चेहरे की हड्डियां चौकोर थीं, छोटी के चेहरे की सलीबनुमा। रंग दोनों का गोरा था, मगर छोटी ज़्यादा गोरी लगती थी। आंखें दोनों की बड़ी-बड़ी थीं, मगर छोटी की ज्यादा बड़ी जान पड़ती थीं। बातूनी दोनों ही थीं, पर

छोटी का बातूनीपन अखरता नहीं था। छोटी का नाम था प्रमिला, उर्फ पम्मी, उर्फ मिस पी०। और बड़ी का नाम था कि याद ही नहीं आ रहा था। जिन दिनों उनसे परिचय हुआ, बड़ी का शादी होकर तलाक हो चुका था। इसलिए वह ज्यादा बचपने की बातें करती थी। हर बात में दस बार अपना नाम लेती थी। "मैंने अपने से कहा, सरला···" हां, सरला नाम था। कहा करती थी, "मैंने कहा, सरला, तू हमेशा इसी तरह बच्ची की बच्ची ही बनी रहेगी!"

अपना नाम उसे पसन्द नहीं था, क्योंकि स्पेलिंग बदलकर उसमें अंग्रेज़ियत नहीं लाई जा सकती थी। प्रमिला कभी ए० को ओ० में बदलकर प्रोमिला हो जाती थी, कभी आर ड्राप करके पामेला बन जाती थी। इसे प्रमिला से इस बात की भी जलन थी कि वह अभी क्वांरी क्यों है। मिलने-जुलने वाले लोग बातें इससे करते थे, ध्यान उनका प्रमिला की तरफ रहता था।

"प्रमिला से मिलोगे?" उसने पूछा।

"वह भी यहीं है?" मैंने पूछा।

"हम दोनों साथ ही आई हैं।" उसने कहा, "सतीश को जहाज़ पर चढ़ाना था। उसने आज जर्मनी के लिए सेल किया है। वहां लोकोमोटिव इंजीनियरिंग के लिए गया है।"

"सतीश···?" दिमाग पर ज़ोर देने पर भी उस नाम के आदमी की शक्ल याद नहीं आई।

"तुम्हें सतीश की याद नहीं?" वह बहुत हैरान हुई। पल-भर ज़बान से लिपस्टिक को चाटती रही। "हमारा छोटा भाई सतीश···तुम तो उसके साथ रात-रात-भर ताश खेला करते थे।"

ताश ज़रूर खेला करता था पर जानता तब उसे सत्ती के नाम से था। यह कब सोचा था कि सात साल में सत्ती साहब बड़े होकर सतीश हो जाएंगे और उठकर लोकोमोटिव इंजीनियरिंग के लिए जर्मनी को चल देंगे।

"हां, याद क्यों नहीं है?" बहुत स्वाभाविकता से मैंने कहा, "सतीश को मैं भूल सकता हूं?" भूलना सचमुच आसान नहीं था, खास तौर से उसकी खदरी नाक की वजह से।

"प्रमिला फोर्ट में शॉपिंग कर रही है।" वह बोली, "मेरा दुकानों में दम घुटता था, इसलिए हवा लेने इधर चली आई थी।" हवा के झोंके से उसने

अपना पल्ला कन्धे से सरक जाने दिया। उंगलियां इस तरह ब्लाउज़ के बटनों पर रख लीं जैसे उन्हें भी खोल देना हो। "आज गरमी बहुत है!"—यह इस तरह कहा जैसे शहर का तापमान ठीक रखने की ज़िम्मेदारी बात सुनने वाले पर हो। फिर शिकायत का दूसरा पहलू पेश किया, "दिल्ली में फरवरी का महीना कितना अच्छा होता है!"

वह मुकाम आ गया था जहां 'अच्छा, फिर मिलेंगे' कहकर एक-दूसरे से अलग हो जाना होता है। चाहता तो मैं खुद ही कह सकता था पर तकल्लुफ में उसके कहने की राह देखता रहा। उसने भी नहीं कहा। उसका शायद इस तरफ ध्यान ही नहीं गया। बेतकल्लुफी से उसने मेरी कुहनी अपने हाथ में ले ली और बोली, "चलो फ्लोरा फाउंटेन चलते हैं। पम्मी ने कहा था आठ बजे मैं उसे बोल्गा के बाहर मिल जाऊं। तुम्हें साथ देखकर उसे बहुत खुशी होगी।"

पम्मी को पहचानने में थोड़ी दिक्कत हुई—मतलब मुझे दिक्कत हुई। वह तो जैसे देखने से पहले ही पहचान गई। "ओह!" उसने चौंककर कहा, "अविनाश, तुम! बम्बई में ही हो तब से?"

उसके चेहरे का सलीब जाने कहां गुम हो गया था। गालों में इतनी गोलाई भर आई थी कि हड्डियों का कुछ पता ही नहीं चलता था। सिर्फ ठोड़ी का गड्ढा उसी तरह था। बांहें वज़न में पहले से दुगुनी नहीं तो ड्योढ़ी ज़रूर हो गई थीं। बाकी सब साइज़ साड़ी में ढके हुए थे। हर लिहाज़ से बड़ी बहन अब वही लगती थी।

बोलना चाहा तो जल्दी में ज़बान नहीं हिली। हाथ एक-दूसरे में उलझ कर रह गए। अपना खड़े होने का ढंग बिलकुल गलत जान पड़ा। "हां, यहीं हूं।" इस तरह कहा कि खुद अपने को हंसी आने को हुई। पर वह सुनकर सीरियस हो गई।

कोफ्त हुई कि क्यों तब से यहीं हूं। कोई भला आदमी इतने साल एक शहर में रहता है? कहीं और चला गया होता तो वह इतनी सीरियस तो न होती।

"उसी फ्लैट में?" उसने दूसरा नज़ला गिराया। एक शहर में रहे जाना

किसी हद तक बरदाश्त हो सकता है मगर उसी फ्लैट में बने रहना हरगि
नहीं। खास तौर से जब फ्लैट उस तरह का हो।...

समझ में नहीं आ रहा था कि किस टांग पर वज़न रखकर बात करूं। दो
ही टांगें गलत लग रही थीं। पहनी हुई पतलून भी गलत लग रही थी। उस
क्रीज़ ठीक नहीं थी। पहले पता होता तो दूसरी पतलून पहनकर आता। कमी
का बीच का बटन टूटा हुआ था। पता होता तो बटन लगा लिया होता। म
से कहना मुश्किल लगा कि हां, अब तक उसी फ्लैट में हूं। सिर्फ सिर हि
दिया।

"उसी पांचवें माले के फ्लैट में?" पता नहीं उसे जानकर खुशी हुई
बुरा लगा। यह शिकायत उससे उन दिनों भी थी। उसकी खुशी और नाराज़
में फर्क का पता ही नहीं चलता था।

जेब में ढूंढ़ा शायद चारमीनार का कोई सिगरेट बचा हो। नहीं था
अनजाने में दियासलाई की डिबिया जेब से बाहर आ गई, फिर शर्मिन्दा होक
वापस चली गई। "हां, उसी फ्लैट में।" किसी तरह लफ्ज़ों को मुंह से अके
और सूखे होंठों पर ज़बान फेर ली। होंठ फिर भी तर नहीं हुए।

"अब भी उसी तरह पांच मंज़िल चढ़कर जाना पड़ता है?" बार-ब
कुरेदने में जाने उसे क्या मज़ा आ रहा था। शायद चुइंग-गम नहीं थीं, इसलि
मुंह चलाने के लिए ही पूछ रही थी। उन दिनों चुइंग-गम बहुत खा
थी। कभी प्यार से मुंह बनाती, तो भी लगता चुइंग-गम की वजह से ऐ
कर रही है। चेहरे का सलीब उससे और लम्बा लगता था। मैंने एकाध ब
मज़ाक में कहा था कि वह बबल-गम खाया करे, तो उसका चेहरा गोल
जाएगा। उसने शायद इस बात को सीरियसली ले लिया था।

"हां," मैंने मार खाए स्वर में कहा, "बिना चढ़े पांचवीं मंज़िल पर कै
पहुंचा जा सकता है?"

"सोच रही थी कि शायद अब तक लिफ्ट लग गई हो।"

बहुत गुस्सा आया। लिफ्ट जैसे बाहर से लग जाती हो, या छतें फाड़क
लगाई जा सकती हो! लगनी होती तो शुरू से ही न लगी होती? कितनी
कितनी परेशानियां उससे बच जातीं। कम से कम उस एक दिन की घटन
तो उस तरह होने से बच ही सकती थी।

"जब तक मकान न टूटे, लिफ्ट कैसे लग सकती है ?" अपनी तरफ से बहुत स्मार्ट बनकर कहा। सोचा कि अब वह इस बारे में और कुछ नहीं पूछेगी, पर उसने फिर भी पूछ ही लिया, "तो तुमने जगह बदल क्यों नहीं ली ?"

पीठ में खुजली लग रही थी, पर उसके सामने खुजलाते शरम आ रही थी। कमर और कन्धों को ऐंठकर किसी तरह अपने पर काबू पाए रहा। "ज़रूरत ही नहीं समझी।" पीछे जाते हाथ को वापस लाकर कहा, "अकेले रहने के लिए जगह उतनी बुरी नहीं।"

वह थोड़ा शरमा गई, जैसे कि बात मैंने उसे सुनाकर कही हो। गोल चेहरे पर झुकी-झुकी आंखें बहुत अच्छी लगीं। पहले उसकी आंखें इस तरह नहीं झुकती थीं। "अब तक शादी नहीं की ?" हाथ के पैकेटों की गिनती करते हुए उसने पूछा। आवाज़ से लगा, जैसे बहुत दूर चली गई हो। सवाल में लगाव ज़रा भी नहीं था। हैरानी, हमदर्दी कुछ नहीं। उत्सुकता भी नहीं। ऐसे ही जैसे कोई पूछ ले, "अब तक दांत साफ नहीं किए ?"

मन छोटा हो गया। अफसोस हुआ कि अपने अकेलेपन का ज़िक्र क्यों किया ? क्यों नहीं वक्त निकल जाने दिया ? अब जाने वह क्या सोचेगी ? जाने उसकी वजह से···या जाने उस फ्लैट की वजह से···

पर अब चुप रहते बनता नहीं था। झक मारकर कहना पड़ा, "करनी होती तो तभी कर लेता !"

उसने जिस तरह देखा, उसके कई मतलब हो सकते थे—'तुम झूठ बालते हो, तुमसे किसीने की ही नहीं, या कि देखती तुम किससे करते, या कि सच अगर तुम्हारी बिल्डिंग में लिफ्ट लगी होती···'

"अब भी क्या बिगड़ा है ?" वह अपने पैकेटों को सहेजती हुई बोली, "अभी इतने ज्यादा बड़े तो नहीं हुए कि···" अचानक बड़ी बहन ने आकर उसे बात पूरी करने से बचा लिया। वह इस बीच न जाने कहां गुम हो गई थी। मुझे याद भी नहीं था कि वह साथ में है। आते ही उसने हाथ झाड़कर कहा, "कहीं नहीं मिली।"

हमने हैरानी से उसकी तरफ देखा। उसने मुंह बिचका दिया, "सारे बाज़ार में नहीं मिली।"

"क्या चीज़ ?"

"मुंगफली, भुनी हुई मुंगफली ! पता होता तो मेरीन ड्राइव से खरीद लाती।"

"अव उधर चलें ?"

उसने छोटी वहन की तरफ देखा। छोटी वहन ने समर्थन नहीं किया, 'इतना सामान साथ में है। लिये-लिये कहां चलेंगे ?"

"सामान आपस में बांट लेते हैं।" बड़ी वहन ने सादगी इस्तेमाल की, 'कुछ पैकेट अविनाश को दे दो। एकाध मुझे पकड़ा दो।"

"वापस पहुंचने में देर नहीं हो जाएगी ?" छोटी वहन ने दूसरा नुक्ता निकाला, "रिश्तेदारी का मामला है। वे लोग मन में क्या सोचेंगे ?"

"सोचते हैं सोचते रहें !" बड़ी वहन ने खुद ही पैकेटों का वंटवारा शुरू कर दिया, "कल हमें चले जाना है। एक ही शाम तो है हमारे पास।"

फुटपाथ। पेडेस्ट्रियन क्रॉसिंग। डोंट क्रॉस ! क्रॉस नाउ !

पैकेट लिए-लिए दो लड़कियों के आगे-पीछे चलना। (लड़कियां ! —सुविधा के लिए उन दिनों की याद में।) उन दोनों का आगे या पीछे रहना। बीच में आपस में वात करना। हंसना। प्रमिला का कहना, "दीदी, तुम्हारा जवाब नहीं !" दीदी का मुंह खोले आंखों से मुझसे कॉम्प्लिमेंट चाहना। कहना, "आज शाम कितनी अच्छी है !" मेरा तापमान को याद रखना। खिसियानी हंसी हंसना। बोलने के वक्त चुप रहना, चुप रहने के वक्त बोल पड़ना। हंसी की वात में सीरियस रहना, सीरियस वात में मुसकरा देना। सामने से आते परिचितों को मतलबभरी नज़र से देखना। किसीका आंख मारना, किसीका रोककर पूछ लेना, "मज़े हो रहे हैं, मज़े ?"

जाने कैसा-कैसा लगा। जैसे वरसों से वे पैकेट उठाए हों। वरसों से वही फुटपाथ पैरों के नीचे हो। वही पेडेस्ट्रियन क्रॉसिंग सामने हो। डोंट क्रॉस ! क्रॉस नाउ ! वरसों से वह कह रही हो, "दीदी, तुम्हारा जवाब नहीं !" पास से कोई पूछ रहा हो, "मज़े हो रहे हैं, मज़े ?"

एक मुंगफलीवाला इरोज़ के पास दिखाई दे गया। सरला फेन्स के नीचे से निकलकर सीधी उसकी तरफ चली गई। झपटती हुई, जैसे कि उसके भाग जाने का डर हो। दो-एक कारवालों को ब्रेक लगानी पड़ी। एक ने घूरकर मेरी

तरफ देख लिया। मैं दम साधे नाक की सीध में चलता रहा। प्रमिला ने चलते-चलते पूछ लिया, "इस तरह खामोश क्यों हो ?"

"खामोश ? नहीं तो।" कहकर मैं सीटी बजाने लगा।

"हमने तुम्हें बोर तो नहीं किया ?"

अपने पर गुस्सा आया, क्यों उसे ऐसा महसूस करने दिया ? क्यों नहीं कुछ न कुछ बात करता रहा ? कितनी ही बार सोचा था कि उनसे कहीं चलकर चाय पीने को कहूं। पर डर था कि पैसे कम न पड़ें। पहले पता होता तो किसीसे उधार मांग लेता या पहली तारीख को बचाकर रखता। हमेशा ज़रूरत के वक्त ही पैसे कम पड़ते थे। तब भी तो यही हुआ था। उस दिन ताश में पैसे न हारे होते तो···

सरला ने मुंगफली लेकर बटुए में भर ली थी। अब एक-एक दाना निकाल-कर खा रही थी। बीच-बीच में हम लोगों की तरफ देख लेती थी, जैसे हम लोग रनर्ज़-अप हों। इससे पहले कि हम लोग पास पहुंचें वह अगली सड़क भी क्रॉस कर गई। एलितालिया के बाहर खड़ी होकर मुंगफली चबाने लगी। जब तक हम वहां आए वह चर्चगेट के बाहर पहुंच गई।

प्रमिला गम्भीर हो गई थी। शायद पैकेटों के बोझ से। गोरी-गदराई बांहें लाल हो आई थीं। पलकें भारी लग रही थीं जैसे नींद आई हो। "अब किधर चलना है ?" सरला के पास पहुंचकर उसने पूछा जैसे कह रहा हो— 'क्यों मुझे खामख्वाह साथ घसीट रही हो ?'

"बैक होम !" सरला ने पटाख-से जवाब दिया; जैसे पूछने, बात करने की ज़रूरत ही नहीं थी; जैसे यहीं तक लाने के लिए मुझसे पैकेट उठवाए गए थे।

"पैकेट ले लें ?" प्रमिला ने गहरी नज़र से उसे देखा। उसने आंखें झपक दीं। साथ ही कहा, "बेचारे को और कितना थकाएगी ?"

मन हुआ कि एकाध पैकेट हाथ से गिर जाने दूं, ऐसे कि बड़ी को झुककर उठाना पड़े। पर अचानक शरीर में झुरझुरी दौड़ गई। पैकेट लेने-लेने में प्रमिला का हाथ बांह से छू गया था। अच्छा हुआ कि आस्तीन चढ़ा रखी थी, वरना झुरझुरी न होती। पैकेट बहुत संभालकर देने की कोशिश की। काफी वक्त लिया कि शायद फिर से उसका हाथ बांह से छू जाए। मगर नहीं हुआ। इससे आखिरी पैकेट सचमुच हाथ से छूट गया। प्रमिला ने आंखें मूंद लीं।

जाने उसमें कौन-सी नाजुक चीज़ बन्द थी।

गिरा हुआ पैकेट खुद ही उठाना पड़ा। टटोलकर देखा कि कुछ टूटा तो नहीं। कोई टूटनेवाली चीज़ नहीं लगी। शायद कपड़ा था। "आई एम सॉरी!" पैकेट उसे देते हुए कहा। सोचा शायद इस बार हाथ से हाथ छू जाए, मगर नहीं छुआ। वह पैकेट लेकर उसपर से धूल झाड़ने लगी।

"कुछ टूटा तो नहीं?" मैंने पूछा।

उसने सिर हिला दिया, जैसे टूटने पर भी शराफत के मारे इन्कार कर रही हो। फिर पैकेट को बच्चे की तरह छाती से चिपका लिया। मन हुआ कि मैं भी दो उंगलियों से उसे बच्चे की तरह सहला दूं। पुचकारकर कहूं, 'त्यों बबलू, तोत तो नहीं लदी?'

"चलें?" प्रमिला ने बड़ी की तरफ देखा। बड़ी ने कलाई की घड़ी की तरफ देखा। फिर स्टेशन की घड़ी की तरफ देखा। फिर मेरीन ड्राइव से आती गाड़ियों पर एक नज़र डाली। फिर सांस भरकर तैयार हो गई। "आओ चलें।"

कुछ सेकण्ड और गुज़र गए। इस दुविधा में कि पहले कौन चले, वे खामोश मुझे देखती रहीं। मैं उन्हें देखता रहा। अचानक बड़ी मुड़कर अन्दर को चल दी। "हाय, फास्ट गाड़ी जा रही है!" उसने लगभग दौड़ते हुए कहा।

छोटी ने चलते-चलते एक बार और देख लिया। आंखें हिलाईं। हाथों को जोड़ने के ढंग से जुम्बिश दी। होंठों को कुछ कहने के ढंग से हिलाया। उसके बाद इस तरह घिसटती हुई चली गई, जैसे चलानेवाली बिजली बड़ी के पैरों में हो।

कुछ देर वहीं खड़ा रहा। गाड़ी को जाते देखता रहा। फिर अपनी नंगी बांह को सहलाता हुआ बस-स्टॉप पर आ गया।

पहली बस मिस कर दी। दूसरी भी मिस कर दी। तीसरी मिस नहीं कर सका, क्योंकि स्टॉप पर अकेला रह गया था। दो सेकण्ड सोचता रहा। इससे कण्डक्टर नाराज़ हो गया। फुटबोर्ड पर पांव रखा, तो उसने डांट दिया, "नहीं जाना मंगता तो इदर ही खड़ा रहो न! बहुत अच्छा-अच्छा शकल देखने को मिलता है।" मुझपर कोई असर नहीं हुआ तो वह बिना टिकट दिये आगे चला गया। वहां से बार-बार मुड़कर देखता रहा, जैसे सोचता हो कि मैं उसे मनाने

जाऊंगा।

एक लड़की के पास जगह खाली थी। मन हुआ बैठ जाऊं, मगर खड़ा रहा, उसे देखता रहा। लड़की बुरी नहीं थी। खासी अच्छी थी। बांहें ज़रा दुबली थीं, बस। शायद स्लीवलेस ब्लाउज़ की वजह से लगती थीं। लो कट और स्लीवलेस! उन दिनों प्रमिला भी ऐसे ही कपड़े पहनती थी। लो कट और स्लीवलेस बांहें उसकी ऐसी दुबली नहीं थीं। रोयें भी उनपर इतने नहीं थे। खामख्वाह मसल देने को मन होता था। उसने एक बार कहा भी था। वह सिर्फ अपना होंठ काटकर रह गई थी।

कण्डक्टर से नहीं रहा गया। खुद ही टिकट देने चला आया। उम्मीद अब भी थी उसे कि मैं माफी मांगूंगा, या कम से कम मुसकरा दूंगा। मगर मैं मुसकरा नहीं सका। होंठ बहुत खुश्क थे। कण्डक्टर ने अपना गुस्सा टिकट पर निकाल लिया। इतने ज़ोर से पंच किया कि उसका हुलिया बिगड़ गया।

घर से एक स्टॉप पहले, मेट्रो के पास उतर गया। सोचा, रात के शो का टिकट खरीद लूं। टिकट मिल रहे थे, मगर तीन-पचास के। एक-पिचहत्तर के बाहर 'सोल्ड आउट' का बोर्ड लगा था। तीन-पचास गिनकर जेब से निकाले, फिर वापस रख लिए। उस क्लास में कभी गया नहीं था। दो मिनट क्यू में खड़ा रहकर लौट आया।

हवा थी। गर्मी भी थी। सामने गिरगांव की सड़क थी। आसानी से क्रॉस कर सकता था। मगर घर आने को मन नहीं था। खाना खाने जाने को भी मन नहीं था। न ईरानी के यहां, न गुजराती के यहां, न ब्रजवासी के यहां। रोज़ तीनों जगह बदल-बदलकर खाता था। एक का ज़ायका दूसरे के ज़ायके से दब जाता था। पैसे अदा करने में सहूलियत रहती थी। चेहरे भी नये-नये देखने को मिल जाते थे। शिकायत भी तीनों से की जा सकती थी।

मगर तीनों जगह जाने को मन नहीं हुआ। कहीं और जाकर खाने को भी मन नहीं हुआ। भूख थी। दिनों बाद ऐसी भूख लगी थी। मगर जाने, बैठने और खाने को मन नहीं हुआ। अपने पर गुस्सा आया। कितनी बार सोचा था कि मक्खन-डबलरोटी घर में रखा करूं। तरकारी-अरकारी भी वहीं बना लिया करूं। मगर सोचने-सोचने में सात साल निकल गए थे।

सोचा, घर ही चलना चाहिए, पर कदम ही नहीं उठे। अंधेरे ज़ीने का

खयाल आया। एक के वाद एक—पांच माले। पहले माले पर सारी विल्डिग की सड़ांध। दूसरे पर खोपड़े की वास। तीसरे पर कुठ और अनारदाने की बू। चौथे पर आयुर्वेदिक औषधियों की गन्ध।

पांचवें माले की वू का ठीक पता नहीं चलता था। प्रमिला ने तव कहा था कि सवसे तेज़ वू वही है। सरला इससे सहमत नहीं थी। उसका कहना था कि सबसे तेज़ गन्ध आयुर्वेदिक औषधियों की है।

कितनी ही देर वहां खड़ा रहा। सव जगहों का सोच लिया कि कहां-कहां जाया जा सकता है। कहीं जाने को मन नहीं हुआ। लगा कि सभी जगह वेगानापन महसूस होगा। पुरी देखकर कहेगा, "आओ, आओ। और दस मिनट न आते तो हम लोग खाना खाकर घूमने निकल गए होते।" भटनागर शायद अन्दर से आंखें मलता हुआ निकले और कहे, "अरे तुम इस वक्त? खैरियत तो है।"

सड़क पार कर ली। गिरगांव के फुटपाथ पर आ गया। प्रिंसेज़ स्ट्रीट के क्रॉसिंग पर कुछ देर रुका रहा, फिर आगे चल दिया।

ईरानी के यहां से मक्खन और डवलरोटी ले ली। विस्कुटों का एक पैकेट भी खरीद लिया। कुछ रास्ता चलकर याद आया कि सिगरेट जेव में नहीं है। पनवाड़ी के यहां से दो डिविया चारमीनार की ले लीं। फिर इस तरह आगे चला जैसे घर पर मेहमान आए हों, जाकर उनकी खातिरदारी करनी हो।

सीढ़ियां गिनी हुई थीं, फिर भी गिनता हुआ चढ़ने लगा जैसे फिर से गिनने से गिनती में फर्क आ सकता हो; संख्या एक सौ वीस से एक सौ सोलह-सत्रह पर लाई जा सकती हो। मगर चौवीस तक गिनकर मन ऊव गया। दूसरे माले से गिनना छोड़ दिया।

उस दिन यहीं तक आकर प्रमिला ऊव गई थी। "अभी और कितने माले चढ़ना है?" उसने पूछा था।

"तीन माले और हैं।" वह हिम्मत न हार दे इसलिए एक माले का झूठ वोल दिया था। खुद जल्दी-जल्दी चढ़ने लगा था कि तीसरे माले से पहले और वात न हो। हाथों में चीजों को संभालना मुश्किल लग रहा था। खाने-पीने का कितना ही सामान साथ लाया था—विस्कुट, भुजिया, अण्डे, चिउड़ा। वहां चाय पीने का सुझाव सरला का था। "इस तरह तुम्हारा फ्लैट भी देख

लेंगे।" उसने कहा था।

प्रमिला शुरू से ही इस बात से खुश नहीं थी। वह पिक्चर देखना चाहती थी—हैमलेट। एक दिन पहले मैं उनसे यही कहकर आया था। खुद ही उनसे 'हैमलेट' की तारीफ की थी। पचासेक रुपये एक दोस्त से उधार ले लिए थे, मगर चालीस से ज़्यादा उनके यहां ताश में हार गया था। उनके भाई के पास, जो कि इस बीच सत्ती से सतीश हो गया था। शर्मा के यहां वे लोग ठहरे थे। उसीने उनसे परिचय कराया था। वह उस वक्त घर पर नहीं था। शाम की ड्यूटी पर गया था। वह होता तो और दस-बीस उधार ले लेता। जब उन दोनों को साथ लेकर निकला, जेब में कुल छः रुपये बाकी थे।

उनके साथ ट्रेन में आते हुए कई-कई बातें सोचीं कि कह दूं, भीड़ में किसीने जेब काट ली है या किसी तरह पैर में मोच ले आऊं या आठ बजे का कोई अपाइंटमेंट बता दूं, पर कहते वक्त जो बात कही वह ज़्यादा वज़नदार नहीं थी। कहा कि पिक्चर में बहुत रश है, आनेवाले पूरे हफ्ते की सीटें बुक हो चुकी हैं।

प्रमिला को वही बुरा लग गया। वह एकाएक खामोश हो गई। सरला मुसकरा दी। "अच्छा ही है," उसने कहा, "तुम आज इतने पैसे हारे भी तो हो।"

इस बात ने काफी देर के लिए मुझे भी खामोश कर दिया।

तीसरे माले तक आते-आते प्रमिला हांफने लगी थी। आंखों में खास तरह की शिकायत थी। जैसे कह रही हो, 'पिक्चर नहीं चल सकते थे तो यहां लाने की बात भी क्या टाली नहीं जा सकती थी?' सरला आगे-आगे जा रही थी और बार-बार उसकी तरफ देखकर हंस देती थी।

चौथे माले से पांचवें माले की सीढ़ी पर मैंने कदम रखा, तो प्रमिला जहां की तहां ठिठक गई।

"अभी और ऊपर जाना है?" उसने पूछा। मुझे अपने झूठ पर अफसोस हुआ।

"यह आखिरी माला है।" मैंने कहा। सरला एक बार फिर हंस दी। प्रमिला की आंखों में रंगीन डोरे उभर आए। "कैसी जगह है यह रहने के लिए!" उसने बुदबुदाकर कहा और सरला की तरफ देख लिया, इस तरह

जैसे सरला की बात अपने मुंह से कह दी हो।

ऊपर पहुंचकर दरवाज़ा खोला, बत्ती जलाई। सब सामान बिखरा पड़ा था, उससे कहीं बुरी हालत में जैसे उन लोगों के आने के दिन पड़ा था। उस दिन तो कुछ चीज़ें फिर भी ठीक-ठिकाने से रखी थीं।

जल्दी-जल्दी उन लोगों के लिए चाय बनाने लगा था। सरला घूमकर कमरे की चीज़ों को देखती रही थी। "यह पलंग कब का है? मराठों के ज़माने का?...पढ़ने की मेज़ पर वह क्या चीज़ रखी है? साबुन की टिकिया? मैंने समझा पेपरवेट है..."

प्रमिला सारा वक्त खिड़की के पास खामोश खड़ी रही थी।

लौटने से पहले सरला दो मिनट के लिए गुसलखाने में गई तो प्रमिला ने पहली बात कही, "टिकटों का पता पहले से नहीं कर सकते थे?"

कुछ जवाब देते नहीं बना। हारी हुई नज़र से उसकी तरफ देखता रहा। उसने फिर कहा, "मैं अपने लिए नहीं कह रही थी। वह पहले ही कितना कुछ कहती रहती है। अब घर जाकर पता है, क्या-क्या बातें बनाएगी?"

"मुझे इसका पता होता तो..."

"पता होना चाहिए था न!" उसका स्वर तीखा हो गया, "ज़रा-सी बात के लिए अब..."

तभी सरला गुसलखाने से आ गई। हंसते हुए उसने कहा, "यह गुसलखाना तो अच्छा-खासा अजायबघर है। मैं तो समझती हूं कि अन्दर जाने वालों से एक-एक आना टिकट वसूल किया जा सकता है!..."

और प्रमिला हम दोनों से पहले बाहर निकलकर ज़ीने पर पहुंच गई थी।

मक्खन, डबलरोटी और बिस्कुट का डिब्बा मेज़ पर रख दिया। कुछ देर चुपचाप पलंग पर बैठा रहा, फिर शेल्फ से एक पुरानी किताब निकाल लाया। बहुत दिन उस किताब को सिरहाने रखकर सोया करता था। किताब प्रमिला से ली थी। उन्हीं दिनों एक बार उनके यहां से ले आया था। इसलिए नहीं कि पढ़ने का खास शौक था, बल्कि इसलिए कि अन्दर प्रमिला का एक फोटो रखा नज़र आ गया था। प्रमिला जानती थी। जब किताब लेकर चला,

तो वह मेरी आंखों में देखकर मुसकरा दी थी। तब परिचय शुरू-शुरू का था। वह अक्सर इस तरह मुसकराया करती थी।

बाद में किताब लौटाने गया था। तब पता चला कि वे लोग दो दिन पहले जा चुके थे।

उस दिन कितना कुछ सोचकर गया था कि उससे उस दिन के लिए माफी मांगूंगा। कहूंगा कि अब फिर किसी दिन ज़रूर वे मेरे साथ पिक्चर का प्रोग्राम बनाएं।...

उस दिन अपने कमरे को भी अच्छी तरह ठीक करके गया था। यह सोचा भी नहीं था कि वे लोग इतनी जल्दी वापस चले जाएंगे।

उनके आने से पहले ही शर्मा ने बात चलाई थी। कहा था कि देखकर बताऊं मुझे वह लड़की कैसी लगती है। यह भी कि वे लोग जल्दी ही शादी करना चाहते हैं।

बाद में उसने नहीं पूछा कि वह मुझे कैसी लगी। कभी उन लोगों का ज़िक्र ही नहीं किया।

किताब खोली। पुरानी फटी हुई किताब थी, पॉकेट बुक सीरीज़ की। एक-एक वर्का अलग हो रहा था। वह फोटो अब भी वहीं था—चौवन और पचपन सफे के बीच। देखकर लगा, जैसे अब भी वह उसी नज़र से देख रही हो, उसी तरह कह रही हो, "पिक्चर नहीं चल सकते थे, तो यहां लाने की बात भी क्या टाली नहीं जा सकती थी?"

फोटो हाथ में लेकर देखता रहा। फिर वहीं रखकर किताब बन्द कर दी। उसे पलंग पर छोड़कर उठा खड़ा हुआ। फिर पलंग से उठाकर मेज़ पर रख दिया और खिड़की के पास चला गया। बाहर वही छतें थीं, वही सूखते हुए कपड़े, वही टूटी-फूटी बच्चों की गाड़ियां, पुरानी कुर्सियां, कनस्तर, बोतलें।...

लौटकर कुर्सी पर आ गया। कितनी ही देर बैठा रहा। फिर एकाएक उठकर किताब को हाथ में ले लिया। फिर वहीं रख दिया। अन्दर जाकर छुरी ले आया और डबलरोटी से स्लाइस काटने लगा। फिर आधे कटे स्लाइस को वैसे ही छोड़कर खिड़की के पास चला गया। वहां से, जैसे उसकी नज़र से, कितनी देर, कितनी ही देर, अपने को और अपने कमरे को देखता रहा, देखता रहा।

ज़ख्म

हाथ पर खून का एक लोंदा···सूखे और चिपके हुए गुलाब की तरह। फुटपाथ पर औंधे पीपे से गिरा गाढ़ा कोलतार···सर्दी से ठठुरा और सहमा हुआ। एक-दूसरे से चिपके पुराने कागज़···भीगकर सड़क पर बिखरे हुए। खोदी हुई नाली का मलवा···झड़कर नाली में गिरता हुआ। विजली के तारों से ढका आकाश···रात के रंग में रंगता हुआ। चिकने माथे पर गाढ़ी काली भौंहें··· उंगली और अंगूठे से सहलाई जा रही।

आवाज़ों का समन्दर···जिसमें कभी-कभी तूफान-सा उठ आता। एक मिला-जुला शोर फुटपाथ की रेलिंग से, स्टालों की रोशनियों से, इससे, उससे और जिस-किसीसे आ टकराता। कुछ देर की कसमसाहट···और फिर बैठते शोर का हल्का फेन जो कि मुंह के स्वाद में घुल-मिल जाता···या सिगरेट के कश के साथ बाहर उड़ा दिया जाता।

सोचते होंठों को सोचने से रोकती, सिगरेट थामे उंगलियां। क्रासिंग पर एक छोटे कदों का रेला···ऊंचे कदों को धकेलता हुआ। एक ऊंचे कदों का रेला···छोटे कदों को रगेदता हुआ। उस तरफ छोटे और ऊंचे कदों का एक मिला-जुला कहकहा। वालकनी पर छटके जाते बाल। एक दरम्याना कद की सीटी। सड़क पर पहयों से उड़ते छींटे।

एक-एक सांस खींचने और छोड़ने के साथ उसकी नाक के बाल हिल जाते थे। वह हर वार जैसे अन्दर जाती हवा को सूंघता था। उसका आना-जाना महसूस करता था।

उसके कॉलर का बटन टूटा हुआ था। शेव की दाढ़ी का हरा रंग गर्दन की गोराई से अलग नज़र आता था। जहां से हड्डी शुरू होती थी, वहां एक गड्ढा पड़ता था जो थूक निगलने या जबड़े के कसने से गहरा हो जाता था। कभी, जब उसकी खामोशी ज़्यादा गाढ़ी होती, वह गड्ढा लगातार कांपता। कॉलर के नीचे के दो बटन हमेशा की तरह खुले थे। अन्दर बनियान नहीं थी, इसलिए घने बालों से ढकी खाल दूर तक नज़र आती थी। इतनी लाल कि जैसे किसी बिच्छू ने वहां काटा हो। छाती के कुछ बाल स्याह थे, कुछ सुनहरे। पर जो बटन को लांघकर बाहर नज़र आ रहे थे, वे ज़्यादातर सफेद थे।

सड़क के उस तरफ पत्थर के खम्भों से डोलचों की तरह लटकते कुमकुमे एक-सी रोशनी नहीं दे रहे थे। रोशनी उनके अन्दर से लहरों में उतरती जान पड़ती थी जो कभी हल्की, कभी गहरी हो जाती थी। रोशनी के साथ-साथ कॉरिडोर की दीवारों, आदमियों और पार्क की गई गाड़ियों के रंग हल्के-गहरे होने लगते थे। बिजली के तारों से ऊपर, आसमान से सटकर, अंधेरा हल्की धूल की तरह इधर से उधर मंडरा रहा था। कुछ अंधेरा पास के कोने में बच्चे की तरह दुबका था। ठण्डी हवा पतलून के पायंचों से ऊपर को सरसरा रही थी।

"तो ?" मैंने दूसरी या तीसरी बार उसकी आंखों में देखते हुए कहा। लगा जैसे वह मेरी नहीं, किसी घूमती हुई गरारी की आवाज़ हो जो हर दो मिनट के बाद 'तो' के झटके पर आकर लौट जाती हो।

उसका सिर ज़रा-सा हिला। घने घुंघराले बालों में कुछ सफेद लकीरें रोशन होकर बुझ गईं। चकोतरे की फांकों जैसे भरे हुए लाल होंठ पल-भर के लिए एक-दूसरे से अलग हुए और फिर आपस में मिल गए। माथे पर उसके चिलगोज़े जितनी एक शिकन पड़ गई थी।

"तुम और भी कुछ कहना चाहते थे न ?" मैंने गरारी का फीता तोड़ा। उसने रेलिंग पर रखी बांह पर पहले से ज़्यादा भार डाल लिया। कहा कुछ नहीं। सिर्फ सिर हिलाकर मना कर दिया।

कई-कई दोमुंहा रोशनियां आगे-पीछे दौड़ती पास से निकल रही थीं। रोशनियों से बचने के लिए बहुत-से पांव और साइकिलों के पहिये तिरछे होने लगते थे। रेलिंग में कई-कई ठण्डे सूरज एकसाथ चमक जाते थे।

मैं समझने की कोशिश कर रहा था। अभी-अभी कोई आध घण्टा पहले घर से निकलकर बाल कटाने जा रहा था, तो पूसा रोड के फुटपाथ पर किसी ने दौड़ते हुए पीछे से आकर रोका था। कहा था कि उस तरफ टू-सीटर में कोई साहब बुला रहे हैं। दौड़कर आने वाला टू-सीटर का ड्राइवर था। मैंने घूमकर देखा, तो टू-सीटर में पीछे से घुंघराले बालों के गुच्छे ही दिखाई दिए। ड्राइवर ने वहीं से सड़क को पार कर लिया, पर मैंने कुछ दूर तक फुटपाथ पर वापस जाने के बाद पार किया। पार करते हुए रोज से ज्यादा खतरे का एहसास हुआ क्योंकि तब तक मैं उसे देख नहीं पाया था। टू-सीटर के पास पहुंचने तक कई तरह की आशंकाएं मन को घेरे रहीं।

मेरे पास पहुंच जाने पर भी वह पीछे टेक लगाए बैठा रहा। हुड के अन्दर देखने तक मुझे पता नहीं चला कि कौन है···घुंघराले बालों से हलका-सा अन्दाज़ा हालांकि मुझे हो रहा था। जब पता चल गया कि वही है, तो खतरे का एहसास मन से जाता रहा।

"मुझे लग रहा था तुम्हीं हो।" मैंने कहा। पर वह मुसकराया नहीं। सिर्फ कोने की तरफ को थोड़ा सरक गया।

"कहीं जा रहे थे तुम ?" मैं पास बैठ गया, तो उसने पूछा।

"बाल कटाने।" मैंने कहा। "इस वक्त सैलून में ज्यादा भीड़ नहीं होती।" वह सुनकर खामोश रहा, तो मैंने कहा, "बाल मैं फिर किसी दिन कटा सकता हूं। इस वक्त तुम जहां कहो, वहां चलते हैं।"

"मैं नहीं, तुम जहां कहो···," उसने जिस तरह कहा, उससे मुझे कुछ अजीब-सा लगा···हालांकि बात वह अक्सर इसी तरह करता था। उसका पिये होना भी उस वक्त मुझे खास तौर से महसूस हुआ, हालांकि ऐसा बहुत कम होता था कि वह पिये हुए न हो। उसके होंठ खुले थे और एक बांह टू-सीटर की खिड़की पर रखकर वह इस तरह कोने की तरफ फैल गया था कि डर लगता था झटके से नीचे न जा गिरे।

"घर चलें ?" मैंने कहा तो वह पल-भर सीधी नजर से मुझे देखता रहा। फिर जवाब देने की जगह होंठ गोल करके जबान ऊपर को उठाए हुए हंस दिया।

"कुछ देर बाहर ही कहीं बैठना चाहो, तो कनाट प्लेस चले चलते हैं।"

जवाब उसने फिर भी नहीं दिया। सिर्फ ड्राइवर को इशारा किया कि वह टू-सीटर को पीछे की तरफ मोड़ ले।

सड़क के गड्ढों पर से हिचकोले खाता टू-सीटर नाले से आगे बढ़ आया, तो एक बार वह मुश्किल से गिरते-गिरते संभला। मैंने अपनी बांह उसके कन्धे पर रखते हुए कहा, "आज तुमने फिर वहुत पी है।"

"नहीं," उसने मेरी बांह हटा दी। "पी है, पर वहुत नहीं। सिर्फ मैं वहुत खुश हूं।"

मैं थोड़ा सतर्क हो गया। वह जब भी पीकर धुत्त हो जाता था तभी कहता था, "मैं बहुत खुश हूं।"

मैंने हंसने की कोशिश की—वहुत कुछ मन को घेरती आशंका और उससे पैदा हुई अस्थिरता की वजह से। उसका हाथ भी उसी वजह से अपने हाथों में ले लिया और कहा, "मुझे पता है तुम जब बहुत खुश होते हो, तो उसका क्या मतलब होता है।"

उसका सिर टू-सीटर के कोने से सटा हुआ था। उसने वहीं से उसे हिलाया और कहा, "तुम समझते हो कि तुम्हें पता है···तुम हर चीज़ के बारे में यही समझते हो कि तुम्हें पता है।"

मुझे अब भी लग रहा था कि वह झटके से वाहर न जा गिरे पर अव उसके कन्धे पर मैंने बांह नहीं रखी। अपने हाथों में लिये हुए उसके हाथ को थोड़ा और कस लिया।···

आती-जाती बसों, कारों और साइकिलों के बीच से रास्ता बनाता टू-सीटर लगभग सीधा चल रहा था। खड़खड़ाहट के साथ गुर्र-गुर्र की आवाज़ ऊंची उठकर धीमी पड़ने लगती थी। बीच में किसी खुमचे या घोड़ा-गाड़ी के सामने पड़ जाने से ब्रेक लगता और हम सीट से ऊपर को उछल जाते। आर्य समाज रोड के बड़े दायरे पर एक बस के झपाटे से वचकर टू-सीटर फुदकता हुआ गोल घूमने लगा। घूमकर लिंक रोड पर आने तक मैं वाईं तरफ के फिल्म-पोस्टर पढ़ता रहा, जिससे मन इर्द-गिर्द के बड़े ट्रैफिक की दहशत से बचा रहे।

पर वह उस बीच एकटक ट्रैफिक की ही तरफ देखता रहा। लिंक रोड पर आ जाने पर उसने अपना हाथ मेरे हाथों से छुड़ा लिया।

"मैं आज तुमसे एक बात करने आया था।" उसने कहा। आंखें उसकी

अब सड़क को बीच से काटती पटरी को देख रही थीं—और उससे आगे पेट्रोल पम्प के अहाते को।

मैं क्षण-भर उसे और अपने को जैसे पेट्रोल पम्प के अहाते में खड़ा होकर देखता रहा—टू-सीटर में साथ-साथ बैठे और हिचकोले खाते हुए। लगा जैसे हम लोगों के उस वक्त उस तरह वहां से गुजर जाने में कुछ अलग-सी बात हो जिसे वाहर खड़े होकर पेट्रोल पम्प की दूरी से ही देखा और समझा जा सकता हो।

"तुम बात अभी करना चाहोगे, या पहले कहीं चलकर बैठ जाएं ?" मैंने पूछा। दूसरी जगह का जिक्र इसलिए किया कि अच्छा है बात कुछ देर और टली रहे।

"तुम जब जहां चाहो।···" उसने दोनों हाथ अपने घुटनों पर रख लिए और कोने से थोड़ा आगे को झुक आया। "बात सिर्फ इतनी है कि आज से मैं और तुम···मैं और तुम आज से···दोस्त नहीं हैं।"

इतनी देर से मन में जो तनाव महसूस हो रहा था वह सहसा कम हो गया·· शायद इसलिए कि वह बात मुझे सुनने में ज़्यादा गम्भीर नहीं जान पड़ी। कुछ वैसी ही बात थी जैसी बचपन में कई बार कई दूसरों के मुंह से सुनी थी। यह भी लगा कि शायद वह नशे की वहक में ही ऐसा कह रहा है। मैं पहले से ज़्यादा खुलकर बैठ गया। अपना हाथ मैंने टू-सीटर की खिड़की पर फैल जाने दिया।

पंचकुइयां रोड पर टू-सीटर को कहीं भी रुकना कहीं पड़ा। सड़क उसे साफ मिलती रही। बत्तियां भी दोनों जगह हरी मिलीं। मैंने अपना ध्यान दुकानों के बाहर रखे फर्नीचर की आड़ी-तिरछी बांहों और लैम्प-शेड्स के गोल और लम्बूतरे चेहरे में उलझाए रखा। ऊपर से जाहिर नहीं होने दिया कि मैंने उसकी बात को ज़्यादा गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। एकाध बार बल्कि इस तरह उसकी तरफ देख लिया जैसे मुझे आगे की बात सुनने की उत्सुकता हो—और उत्सुकता ही नहीं साथ गिला भी हो कि उसने ऐसी बात क्यों कही।

पंचकुइयां रोड पार करके अन्दर के दायरे में आते ही उसने ड्राइवर से रुक जाने को कहा। फिर मुझसे बोला, "आओ, यहीं उतर जाएं।" मैं जेब से

चलकर बियर पीने को कहा था। मेरे कहने पर कि उस वक्त मैं नहीं चल सकूंगा, उसने बुरा भी नहीं माना था। मुझे छोड़ने बस-स्टॉप तक आया था। क्यू में मेरे साथ खड़ा रहा था। बस की भीड़ में मेरे फुटबोर्ड पर पांव जमा लेने पर उसने दूर से हाथ हिलाया था। मैं जवाब में हाथ नहीं हिला सका क्योंकि मेरे दोनों हाथ भीड़ के कब्जे में थे। बस चल दी, तब वह स्टॉप से थोड़ा हटकर अंधेरे में खड़ा मेरी तरफ देखता रहा था। मुझसे आंख मिलने पर हल्के-से मुसकरा दिया था।

कल हम घण्टा-भर साथ थे, पर उस दौरान हमारे बीच कोई खास बात नहीं हुई थी। उसने कहा था कि अब जल्दी ही कोई अच्छी-सी लड़की देखकर वह शादी कर लेना चाहता है—अकेलेपन की ज़िन्दगी उससे और बर्दाश्त नहीं होती। पर यह बात उसने पिछले हफ्ते भी कही थी, महीना-भर पहले भी कही थी और चार साल पहले भी। मैंने हमेशा की तरह सरसरी तौर पर हामी भर दी थी। हमेशा की तरह यह भी कहा था कि पहले ठीक से सोच ले कि कहां तक उस ज़िंदगी को निभा सकेगा। कहीं ऐसा न हो कि बाद में आज से ज़्यादा छटपटाहट महसूस करे। सिन्धिया हाउस के चौराहे पर इसी बात पर वह हंसा था। "मुझे मालूम था," उसने कहा था, "कि तुम मुझसे यही कहोगे। यह बात तुम आज पहली बार नहीं कह रहे।" मुझे इससे थोड़ी शरम आई थी, क्योंकि सचमुच मैं उससे यह बात कई बार कह चुका था···शिमला में डेविकोज़ की पिछली खिड़की के पास बैठकर बियर पीते हुए···जमशेदपुर में उसके होटल के कमरे में बिस्तर में लेटे हुए···इलाहाबाद में गज़दर के लान में चहलकदमी करते हुए···और बम्बई में कफ परेड पर समन्दर में जाती गन्दी नाली की उस संकरी डण्डी पर चलते हुए, जहां नाजायज़ शराब पीना और नाजायज़ प्रेम करना दोनों ही नाजायज़ नहीं हैं। इनके अलावा और भी कई जगह यह बात मैंने उससे कही होगी क्योंकि नौ साल की दोस्ती में ज़्यादातर हमारी बात स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को लेकर ही होती रही थी।

"कल रात तक तो हमारे बीच ऐसी कोई बात नहीं थी।" मैंने कहा। "उसके बाद इस बीच ऐसा क्या हो गया जिससे···?"

वह हंसा। "क्या हो सकता था उसके बाद ?···उसके बाद मैं अपने कमरे में चला गया और जाकर सो गया।" रेलिंग पर रखी उसकी बांह शरीर

के बोझ से एक बार फिसल गई। वह जिस तरह रेलिंग से सटकर खड़ा था, उससे लग रहा था कि अब आगे चलने का उसका इरादा नहीं है।

"आज दिन-भर कहां रहे ?"

"वहीं अपने कमरे में। इसके बाद अगर पूछोगे कि क्या करता रहा—तो जवाब है कि टहलता रहा, किताब पढ़ता रहा, शराब पीता रहा।"

उसका ज़ख्मी हाथ अब मेरे सामने था। नियॉनसाइन्स के बदलते रंगों में लहू का रंग हरा-नीला होकर गहरा भूरा हो जाता था।

किसी-किसी क्षण मुझे लगता कि शायद वह मज़ाक कर रहा है। कि अभी वह ठहाका लगाकर हंसेगा और बात वहीं समाप्त हो जाएगी। मगर उसकी आंखों में मज़ाक की कोई छाया नहीं थी। जिस हाथ पर ज़ख्म नहीं था, उससे वह लगातार अपनी भौंहों को सहला रहा था। इस तरह भौंहों को वह तभी सहलाता था जब 'बहुत खुश' होता था।

इस तरह 'बहुत खुश' उसे मैंने कितनी ही बार देखा था। एक बार शिमला में जब कम्बरमियर पोस्ट ऑफिस के बाहर उसने अपने एक साथी को पीट दिया था। वह आदमी उसके दफ्तर का स्टेनो था—और उसका पीने और उधार लेने का साथी था। उस घटना के बाद दोनों की डिपार्टमेंटल इन्क्वायरी हुई और उन्हें शिमला से ट्रान्सफर कर दिया गया। फिर इलाहाबाद के एक बार में, जब किसीने पास आकर अपने गिलास की शराब उसके मुंह पर उछाल दी थी! वह उसके बाद रात-भर अपनी चारपाई के गिर्द चक्कर काटता रहा और कहता रहा कि उस आदमी की जान लिए बगैर अब वह नहीं सो सकेगा। बम्बई के दिनों में तो वह अक्सर ही 'बहुत खुश' रहता था। मैं उन दिनों चर्चगेट के एक गेस्ट हाउस में रहता था। वह दिन में या रात में किसी भी वक्त मेरे पास चला आता···दो में से एक बार अपनी भौंहों को सहलाता हुआ। कभी झगड़ा उस घर के लोगों से हुआ होता जिनके यहां वह पेइंग गेस्ट था···कभी कोलाबा के बूटलेगर्ज़ से जो नौ बजने के साथ ही अपने दरवाज़े बन्द कर लेना चाहते थे। एकाध बार जब उसे लगा कि उस तरह पीकर आने पर मैं भी उससे कतराता हूं, तो वह मेरे पास न आकर रात-भर कफ परेड के खुले पेवमेण्ट पर सोया रहा।

वह जिस ढंग से जीता था, उससे कई बार खतरा महसूस करते हुए भी

मुझे उसके व्यक्तित्व में एक आकर्षण लगता था। वह बिना लाग-लिहाज़ के किसीके भी मुंह पर सब बात कह सकता था। दस आदमियों के बीच अलिप्त नंगा होकर नहा सकता था···अपनी जेब का आखिरी पैसा तक किसीको भी दे सकता था। पर दूसरी तरफ यह भी था कि किसी लड़की या स्त्री के साथ दस दिन के प्रेम में जान देने और लेने की स्थिति तक पहुंचकर चार दिन बाद वह उससे बिलकुल उदासीन हो सकता था। अक्सर कहा करता था कि किसी ऐसी स्त्री के साथ ही उसकी पट सकती है जो एक मां की तरह उसकी देख-भाल कर सके। यह शायद इसलिए कि बचपन में मां का प्यार उसके बड़े भाई को उससे ज़्यादा मिला था। इसी वजह से शायद ज़्यादातर उसका प्रेम विवाहित स्त्रियों से ही होता था·· पर उसमें उसे यह बात सालती थी कि वह स्त्री उसके सामने अपने पति से बात भी क्यों करती है···बच्चों के पास न होने पर भी उनका ज़िक्र ज़बान पर क्यों लाती है! "मुझे यह बर्दाश्त नहीं," वह कहता, "कि मेरी मौजूदगी में वह मेरे सिवा किसी और के बारे में सोचे, या मुझसे इसका ज़िक्र करे।"

नौ साल में मैं उसे उतना जान गया था जितना कि कोई भी किसीको जान सकता है। उसकी ज़िन्दगी जितनी दुर्घटनापूर्ण होती गई थी, उतना ही मेरा उससे लगाव बढ़ता गया था। यह लगाव उसकी दुर्घटनाओं के कारण शायद उतना नहीं था, जितना अपनी दुर्घटनाओं को बचाकर चलने के कारण। मेरी जानकारी में वह अकेला आदमी था जो दाएं-बाएं का ख्याल न करके सड़क के बीचोंबीच चलने का साहस रखता था। वह सिर्फ हठ या ज़िद की वजह से ऐसा नहीं करता था—उसका स्वभाव ही यह था। कई बार गहरी चोट खा जाता, तो यह भी कोशिश करता कि अपने इस स्वभाव को बदल सके। तब वह बड़े-बड़े मनसूबे बांधता, योजनाएं बनाता और अपने इरादों की घोषणा करता। कहता कि उसे समझ आ गया है कि ज़िन्दगी के बारे में उसका अब तक का नज़रिया कितना गलत था। कि अब से वह एक निश्चित लकीर पकड़कर चलने की कोशिश करेगा··· कि अब अपने को ज़िन्दगी से और निर्वासित नहीं रखेगा···कि अब जल्दी ही शादी करके सही ढंग से जीना शुरू करेगा। जब तक नौकरी लगी रहती और पीने को काफी शराब मिल जाती, तब तक वह कहता, "नहीं, मैं तुम लोगों की तरह नहीं जी सकता!···मैं अपने वक्त का हिस्सा नहीं, उसका

नगहवान हूं। मैं जीता नहीं, देखता हूं—क्योंकि जीना अपने में बहुत घटिया चीज़ है। जीने के नाम पर तो पेड़-पौधे भी जीते हैं—पशु-पक्षी भी जीते हैं।" र जब कभी लम्बी बेकारी के दौर से गुजरना पड़ता, और कई-कई दिन शराब छूने को न मिलती, तो वह भूलभुलैया में खोए आदमी की तरह कहता, 'मुझे समझ आ रहा है कि मैं बिलकुल कट गया हूं'''हर चीज़ से बहुत दूर हो गया हूं।" अभी चन्द महीने पहले नई नौकरी मिलने पर कहा था, "मुझे खुशी है मैं अपनी दुनिया में लौट आया हूं। इस बार की बेकारी में तो मुझे लग रहा था कि मैं तुमसे भी कट गया हूं'''अपने में बिलकुल अकेला पड़ गया हूं। मुझे यह भी एहसास हो रहा था कि तुम सब लोगों ने मुझे बीता हुआ मान लिया है''' बीता हुआ और गुमशुदा !" उसके बाद मैंने उसे लगातार कोशिश करते देखा था'''अपने को वक्त का निगहवान बनने से रोकने की। अब काम के वक्त के बाद वह अपने को कमरे में बन्द नहीं रखता था'''इधर-उधर लोगों से मिलने चला जाता था। जिन लोगों के नाम से ही कभी भड़क उठता था, उनके साथ बैठकर चाय-कॉफी पी लेता था। उनके मज़ाक में शामिल होकर साथ मज़ाक करने की कोशिश भी करता था। इसी बीच दो-एक मैट्रिमोनियल विज्ञापनों के उत्तर में उसने पत्र भी लिखे थे'''दो-एक लड़कियों को जाकर देख भी आया था। एक लड़की देखने में साधारण थी'''दूसरी साधारण भी नहीं थी। वैसे दोनों लड़कियां नौकरी में थीं। "मैं किसी ऐसी ही लड़की से शादी करना चाहता हूं," उसने कहा था, "जो अपना भार खुद संभाल सकती हो। ताकि आगे कभी बेकारी आए, तो मुझे दोहरी तकलीफ में से न गुजरना पड़े।"

पर दोनों में से किसी भी जगह वह बात तय नहीं कर पाया। बात सिरे पर पहुंचने से पहले ही किसी न किसी बहाने उसने उन्हें टाल दिया। अभी दस दिन हुए एक चायघर में बैठे हुए अचानक ही वह लोगों के बीच से उठ खड़ा हुआ था। "मैं जाऊंगा।" उसने कहा था। "मेरी तबीयत ठीक नहीं है। लग रहा है मेरा दिल सिंक कर रहा है।" चेहरा उसका सचमुच ज़र्द हो रहा था। सर्दी के बावजूद माथे पर पसीने की बूंदें झलक रही थीं।

मैं तब उसके साथ उठकर बाहर चला आया था। बाहर फुटपाथ पर आकर वह खोई हुई नज़र से इधर-उधर देखता रहा था। "किसी डॉक्टर के यहां चलें ?" मैंने उससे पूछा, तो वह जैसे चौंक गया। बोला, "नहीं-नहीं,

डॉक्टर को दिखाने की जरूरत नहीं। मैं अपने कमरे में जाकर लेट रहूंगा, तो सुवह तक ठीक हो जाऊंगा।" दूसरे-तीसरे दिन मैं उसके कमरे में उसे देखने गया, तो वह वहां नहीं था। ताले में किसीके नाम उसकी चिट लगी थी, "मैं रात को देर से आऊंगा। मेरा इन्तज़ार मत करना।" तीन दिन वाद मैं फिर गया तो पता चला कि उसके मालिक-मकान ने एक रात अपनी वीवी को वुरी तरह पीट दिया था। उस औरत के रोने-चिल्लाने की आवाज़ सुनकर यह मालिक-मकान को पीटने जा पहुंचा था।···उसके वाद से वहुत कम अपने कमरे में नज़र आया था। मुझे यह अस्वाभाविक नहीं लगा क्योंकि एक वार जव दफ्तर में उसके सामने की कुर्सी पर वैठने वाले अधेड़ वैचलर की हार्ट-फेल से मौत हो गई थी, तो यह कई दिन दफ्तर नहीं गया था और कोशिश करता रहा था कि उसकी मेज़ उस कमरे से उठवाकर दूसरे कमरे में रखवा दी जाए।

पर कल मुलाकात होने पर वह मुझे हमेशा की तरह मिला था। न उसने अपने मालिक-मकान का ज़िक्र किया था, न ही अपनी सेहत की शिकायत की थी। वल्कि मैंने पूछा कि अव तवीयत कैसी है, तो उसने आंखें मूंदकर सिर हिला दिया था कि विलकुल ठीक है···हालांकि जिस तरह वह मुझे उठाकर लाया था, उससे मुझे लगा था कि वह कोई खास वात करना चाहता है। क्या वात होगी···यह मैं वस में चढ़ने के वाद भी सोचता रहा था।

एक परिचित चेहरा सामने की भीड़ में हमारी तरफ आ रहा था। सफेद वाल और नुकीली ठोड़ी। आंख वचाने पर भी वह व्यक्ति मुसकराता हुआ पास आ खड़ा हुआ।

"क्या हो रहा है ?" उसने वारी-वारी से दोनों को देखते हुए पूछा।

"कुछ नहीं, ऐसे ही खड़े थे।" मैंने कहा। इस पर वह हाथ मिलाकर चलने को हुआ, तो अचानक उसकी नज़र ज़ख्मी हाथ पर पड़ गई। "यह क्या हुआ है यहां ?" उसने पूछ लिया।

"यह कुछ नहीं है।" ज़ख्मी हाथ रेलिंग से हटकर नीचे चला गया। "कल खिड़की खोलते हुए कट गया था—खिड़की के कांच से। वन्द खिड़की थी—खुल नहीं रही थी। उसीका ज़ख्म है—खिड़की के कांच का।"

"पर यह ज़ख्म कल का तो नहीं लगता।" उस व्यक्ति ने अविश्वास के

साथ हम दोनों की तरफ देख लिया।

"नहीं लगता ? नहीं लगता तो आज का होगा, इसी वक्त का···यह ठीक है ?"

उस व्यक्ति की आंखें पल-भर के लिए चौकन्नी-सी हो रहीं। फिर एक बार सन्देह की नज़र उस हाथ पर डालकर और कुछ हमदर्दी के साथ मेरी तरफ देखकर वह भीड़ में आगे बढ़ गया। उसके सफेद बाल नलैटी-से होकर कुछ दूर तक नज़र आते रहे।

"तो ?"

वह हिला नहीं। और भी गहरी नज़र से मेरी तरफ देखने लगा। जैसे आंखों से मेरी चीर-फाड़ कर रहा हो।

"कुछ देर कहीं चलकर बैठें ?" मैंने पूछा।

उसने सिर हिला दिया। "मैं अब जा रहा हूं।" उसने कहा।

"कहां जाओगे ?"

"अपने कमरे में···या जहां भी मन होगा।"

"पर मेरा ख्याल था कि तुम अभी कुछ और बात करना चाहोगे।"

"मैं और बात करना चाहूंगा ?" वह हंसा। "मैं अब किसीसे भी और बात करना चाहूंगा ?"

"पर मैं तुमसे बात करना चाहूंगा।" मैंने कहा। "तुम कहो तो यहीं कहीं बैठते हैं। नहीं तो कुछ देर के लिए मेरे घर चल सकते हो।"

"तुम्हारे घर ?" नियॉनलाइट्स के रंग उसकी आंखों में चमककर बुझ गए। "तुम्हारा घर कल से आज में कुछ और हो गया है ?"

बात मेरी समझ में नहीं आई। मैं चुपचाप उसकी तरफ देखता रहा। वह पहले से थोड़ा और मेरी तरफ को झुककर बोला, "तुम्हारा घर वही है न, जहां तुम कल भी गए थे···अकेले ? बस के फुटबोर्ड पर लटके हुए···? कल तुम्हें मेरे साथ रहने से···मुझे साथ ले जाने से···डर लगता था···आज नहीं लगता ? मैं जैसा बेकार कल था वैसा ही आज भी हूं···बिल्कुल उतना ही बेकार और उतना ही बदशक्ल !"

ट्रैफिक की आवाज़ से हटकर एक और आवाज़। आसमान में बादल की हल्की गड़गड़ाहट। मैंने ऊपर की तरफ देखा—जैसे कि देखने से ही पता लग

सकता हो कि बारिश फिर तो नहीं होने लगेगी। बिजली के तारों के ऊपर धुंधला अंधेरा था और उससे भी ऊपर हल्की-हल्की सफेदी। मुझे लगा कि मेरे पैर पहले से ज़्यादा चिपचिपा रहे हैं, और चप्पल के अन्दर गई मिट्टी की परतें दोनों तलवों से चिपक गई हैं। मेरे दोनों होंठ भी आपस में चिपक रहे थे। उन्हें कोशिश से अलग करके मैंने कहा, "तुमने कल नहीं बताया कि तुमने यह नौकरी भी छोड़ दी है।"

"तुम्हारा ख्याल है मैं नौकरी छूटने की वजह से यह बात कर रह. वह अपनी आंखें अब और पास ले आया। "तुम समझते हो कि इसी व कल मैं तुमसे चिपका रहना चाहता था?...पर खातिर जमा रखो, नौकरी न रहने पर भी मैं दस आदमियों को खिला सकता हूं। खाता मैं कभी वि नहीं। और यह भी विश्वास रखो कि मुझे अभी बीस साल और जीना है· कम से कम बीस साल!"

नीचे से चिपचिपाते पैर ऊपर से मुझे बहुत नंगे और बहुत ठण्डे महसूस हो रहे थे। सामने रोशनी का एक दायरा था जिसमें कई-एक स्याह बिन्दु हिल-डुल रहे थे। उस दायरे में घिरा एक और दायरा था...तारीकी का...जिसमें कोई बिन्दु अलग नज़र नहीं आता था, पर जो पूरा का पूरा हल्के-हल्के कांप रहा था।

उसने पास से गुज़रते एक टू-सीटर को हाथ के इशारे से रोका, तो मैंने फिर कहा, "चलो घर चलते हैं। वहीं चलकर बात करेंगे।"

"तुम जाओ अपने घर..." उसने मेरा हाथ अपने ज़ख्मी हाथ में लेकर हिला दिया। "...क्योंकि तुम्हारे लिए एक ही जगह है जहां तुम जा सकते हो। पर जहां तक मेरा सवाल है, मेरे लिए एक ही जगह नहीं है—मैं कहीं भी जा सकता हूं।" और रेलिंग के नीचे से निकलकर वह टू-सीटर में जा बैठा। टू-सीटर स्टार्ट होने लगा, तो उसने बाहर की तरफ झुककर कहा, "पर इतना तुम्हें फिर बता दूं, कि मुझे कम से कम बीस साल और जीना है। तुम्हारे या दूसरे लोगों के बारे में मैं नहीं कह सकता—पर अपने बारे में कह सकता हूं कि मुझे ज़रूर जीना है।"

मेरे हाथ पर एक ठण्डा-सा जज़ीरा बन गया था—वहां जहां वह उसके ज़ख्म से छुआ था। उसका टू-सीटर दायरे में घूमता हुआ काफी आगे निकल

गया, तो भी मैं कुछ देर रेलिंग के सहारे वहीं खड़ा हाथ के जज़ीरे को सहलाता रहा। दो-एक और खाली टू-सीटर सामने से निकले, पर मैंने उन्हें रोका नहीं। जब अचानक एहसास हुआ कि मैं बेमतलब वहां खड़ा हूं, तो वहां से हटकर कॉरिडोर में आ गया और शीशे के शो-केसों में रखे सामान को देखता हुआ चलने लगा। कुछ देर बाद मैंने पाया कि कनाट प्लेस पीछे छोड़कर मैं पार्लियामेंट स्ट्रीट के फुटपाथ पर चल रहा हूं—उस स्टॉप से कहीं आगे, जहां से कि रोज़ घर के लिए बस पकड़ा करता था।

• • •